ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-7

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal
on Vedic Studies

Vol./ वर्ष-4 Jan.-June 2016 No./ अंक 6

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

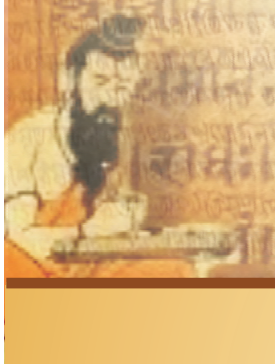

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
Jan.-June 2016

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Ram Prakash, Chancellor
Dr. Surendra Kumar, Vice Chancellor

Advisory Board

Prof. B.L. Bharteeya, Rajasthan
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Dr. Vinod Chandra Vidyalankar, Jwalapur
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Suneel Joshi, Haridwar
Prof. Ishwar Bhardwaj, Haridwar
Prof. Somdev Shatanshu, Haridwar
Prof. Nicholas Kazanas, Athens (Greece)
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Rajendra Vidyalankar, Kurukshetra
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Kamlesh Chaukashi, Ahamedabad, Gujrat
Prof. Renubala, Amritsar
Prof. Vikram Kumar Viveki, Chandigarh
Prof. Kishnaram Bishnoi, Hissar
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof P.C. Joshi, Haridwar
Prof. R.C. Dubey, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Dr. Aparna Dhir, New Delhi

Departmental Advisory Board

Prof. Roopkishor Shastri
Prof. Manudev Bandhu

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna, V.C. Patanjali University
Prof. P.K. Dixit, V.C. U.S. University

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Head, Dept. of Veda, GKV,
Haridwar-249404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541

Reviewers

Prof. V.K. Mishra, Shimla
Prof. M.M. Pathak, Gorakhpur

Finance Advisor

Sh. R.K. Mishra, F.O.
Sh. Shashi Kant Sharma, ACMA

Business Manager

H.O.D. Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404 (Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 200.00 Annual, US $ 20
Single Copy: Rs. 100.00
Rs. 1000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Vinod Kumar
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal
on Vedic Studies

वर्ष–4 Jan.-June 2016 अंक 6

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

अ॒स्य वा॒मस्य॑ पलि॒तस्य॒ होतु॒स्तस्य॒ भ्राता॑ मध्य॒मो अ॒स्त्यश्न॑:।
तृ॒तीयो॒ भ्राता॑ घृ॒तपृ॑ष्ठो अ॒स्यात्रा॑पश्यं वि॒श्पति॑ꣳ स॒प्तपु॑त्रम्।। ऋ. १/१६४/१

पदार्थः—(अस्य) (वामस्य) शिल्पगुणैः प्रशस्तस्य (पलितस्य) प्राप्तवृद्धावस्थस्य (होतुः) दातुः (तस्य) (भ्राता) भ्रातेव (मध्यमः) मध्ये भवः पृथिव्यादिस्थो द्वितीयः (अस्ति) (अश्नः) भोक्ता (तृतीयः) (भ्राता) बन्धुवद्वर्त्तमानः (घृतपृष्ठः) घृतं जलं पृष्ठेऽस्य (अस्य) (अत्र) (अपश्यम्) (विश्पतिम्) प्रजायाः पालकम् (सप्तपुत्रम्) सप्तविधैस्तत्त्वैर्जातम्।।

अन्वयः—वामस्य पलितस्याऽस्य प्रथमो होतुस्तस्य भ्रातेवाऽश्नो मध्यमो घृतपृष्ठोऽस्य भ्रातेव तृतीयोऽस्ति। अत्र सप्तपुत्रं विश्पतिं सूर्यमपश्यम्।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। अस्मिञ्जगति त्रिविधोऽग्निरस्ति एको विद्युद्रूपः द्वितीयः काष्ठादिप्रज्वलितो भूमिस्थस्तृतीयः सवितृमण्डलस्थः सन् सर्वं जगत् पालयति।।

पदार्थः—(वामस्य) शिल्प के गुणों से प्रशंसित (पलितस्य) वृद्धावस्था को प्राप्त (अस्य) इस सज्जन का बिजुलीरूप पहिला, (होतुः) देने वा हवन करने वाले (तस्य) उसके (भ्राता) बन्धु के समान (अश्नः) पदार्थों का भक्षण करने वाला (मध्यमः) पृथिवी आदि लोकों में प्रसिद्ध हुआ दूसरा और (घृतपृष्ठः) घृत वा जल जिसके पीठ पर अर्थात् ऊपर रहता वह (अस्य) इसके (भ्राता) भ्राता के समान (तृतीयः) तीसरा (अस्ति) है, (अत्र) यहां (सप्तपुत्रम्) सात प्रकार के तत्त्वों से उत्पन्न (विश्पतिम्) प्रजाजनों की पालना करने वाले सूर्य को मैं (अपश्यम्) देखूं।।

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। इस जगत् में तीन प्रकार का अग्नि है—एक बिजुलीरूप, दूसरा काष्ठादि में जलता हुआ भूमिस्थ और तीसरा वह है जो कि सूर्यमण्डलस्थ होकर समस्त जगत् की पालना करता है।।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

क्र.सं.	*विषय*	*पृ.सं.*
	वैदिक वाक्	*iii*
	सम्पादकीय : आर्ष दृष्टि के झरोखे से - यजुर्वेद सम्बन्धी पुराणप्रोक्त याज्ञवल्क्य गाथा का तात्पर्य	*vii*

हिन्दी-सम्भाग

1.	**वेदों में भू-विज्ञान विषयक वैज्ञानिक तथ्य** —डॉ० सुरेन्द्रकुमार	1-5
2.	**गृह्यसूत्रगत आर्ष-अनार्ष-विमर्श** —प्रो. वीरेन्द्र कुमार अलंकार	6-18
3.	**श्री अरविन्द की दृष्टि में अवतारवाद** —प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री	19-31
4.	**प्राचीन आर्ष वाङ्मय में आकाश** —डॉ. मीरा द्विवेदी	32-44
5.	**अक्षरशक्तिर्गरीयसी** —प्रो. रूप किशोर शास्त्री	45-52
6.	**वैदिक वाङ्मय में वसन्त ऋतुचर्या** —आचार्य डॉ. धर्मवीर वैदिक	53-58
7.	**शिव संकल्प से अनुप्रेरित वैदिक मनः प्रबन्धन** —डॉ. अनीता जैन	59-63
8.	**वैदिक सौन्दर्य तत्त्व (वेदर्षि डॉ. फतहसिंह की दृष्टि में)** —डॉ. प्रतिभा शुक्ला	64-68
9.	**वेदार्थनिरूपण में ज्योतिष् का योगदान** — डॉ० प्रतिभा	69-73
10.	**वैदिक कालीन कृषि व्यवस्था की आज के युग में प्रासंगिकता** —डॉ० मीरा रानी रावत	74-79

11.	**अथर्ववेद में पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा** –डॉ. कैलाश नाथ तिवारी	80–85
12.	**वेदों में भक्ति भावना** –डॉ. सन्दीप कुमार चौहान	86–96
13.	**काल तत्त्वों का मिथकीय स्वरूप : यजुर्वेदीय ब्राह्मणों के सन्दर्भ में** –डॉ. अपर्णा धीर	97–102
14.	**प्राणायाम की अवधारणा** –संयोगिता	103–107
15.	**देवतांशपरक राजधर्म : नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में** –सलोनी	108–111
16.	**वेदोक्त सन्यास धर्म एवं आचार्य शंकर** –डॉ. सुरेश लाल बर्णवाल	112–119
17.	**पुनर्जन्म - एक वैदिक दृष्टि** –राहुल शर्मा	120–123

संस्कृत सम्भागः

18.	**किं यास्कीय-निर्वचनानि उन्मत्तगीतानि?** –युधिष्ठिरो मीमांसकः	124–130
19.	**स्कम्भो नाम ज्येष्ठं ब्रह्म** –प्रो. मानसिंहः	131–134

English Section

20.	**The Four *Varṇas*: A Vedic Concept of Division of Society** –Prof. Shashi Tiwari	135-142
21.	**Book Review - Vedavyākhyāpaddhatayaḥ** –Dr. Soma Basu	143-147
22.	**Computer Ergonomics and Yoga** –Suyash Bhardwaj	148-166
23.	**Information of Research Conducted on Vedic Subjects in India**	167-174
24.	**पत्र, सम्मतियां एवं सम्मान**	175-177

✦✦✦

सम्पादकीय

आर्ष दृष्टि के झरोखे से–

यजुर्वेद सम्बन्धी पुराणप्रोक्त याज्ञवल्क्य गाथा का तात्पर्य

विष्णुपुराण के पांचवे अध्याय में याज्ञवल्क्य विषयक उल्लेख मिलता है। वहां लिखा है–वैशम्पायन ने यजुर्वेद की सत्ताईस शाखाओं का प्रवचन किया और अनेक शिष्यों को उसने इन सबका अध्ययन कराया। उनमें ब्रह्मरात का पुत्र याज्ञवल्क्य नामक एक शिष्य था। किसी घटना पर गुरु वैशम्पायन उससे रुष्ट हो गये। गुरु ने कहा, जो कुछ तुमने मुझसे सीखा है, उसे यहीं छोड़ दो और चले जाओ, अब तुम्हारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। याज्ञवल्क्य अधीत शास्त्र का परित्याग कर चला गया। इस विषय में विष्णुपुराण के शब्द इस प्रकार हैं–

इत्युक्तो रुधिराक्तानि सरूपाणि यजूंषि सः।
छर्दयित्वा ददौ तस्मै ययौ स स्वेच्छया मुनिः॥ 3.5.12

अर्थात् 'ऐसा कहे जाने पर उस मुनि याज्ञवल्क्य ने रुधिर से सने मूर्त्त यजुषों को उगलकर गुरु के लिए दे दिया, और अपनी इच्छानुसार चला गया।'

विष्णुपुराण के उक्त श्लोक में कथन है, कि रुधिर से सने मूर्त्त यजुषों को छर्दन [वमन=उगल देना] कर याज्ञवल्क्य ने गुरु को दे दिया।

अगले श्लोक–

यजूंष्यथ विसृष्टानि याज्ञवल्क्येन वै द्विज।
जगृहुस्तित्तिरा भूत्वा तैत्तिरीयास्तु ते ततः॥ 3.5.13

में है कि याज्ञवल्क्य द्वारा परित्यक्त (विसृष्टानि) यजुषों को तित्तिर होकर वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने ग्रहण किया, इस कारण वे तैत्तिरीय कहलाये गये। उक्त श्लोकों में कतिपय निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं–

(1) यजुः श्रुतियों का रुधिर से सना होना।

(2) इनका मूर्त्त रूप [सरूपाणि] होना।

(3) ज्ञानरूप यजुषों का उगलना या वमन करना।

(4) अन्य शिष्यों द्वारा तित्तिर होकर उसे ग्रहण करना।

(1) इस प्रकार के कथन में ऐतिहासिक तथ्य क्या हो सकता है, यह विचारणीय है। कारण यह है कि 'वेद' ज्ञानरूप है। वैशम्पायन ने यजुर्वेद की जिन शाखाओं का

याज्ञवल्क्य को अध्ययन कराया, वे वही सत्ताईस अथवा उनमें से कतिपय शाखा हो सकती हैं, जिनका प्रवचन वैशम्पायन ने किया। उस अधीत ज्ञान अथवा श्रुतियों का रुधिर से सना होना क्या है? किसी प्राचीन लेख से स्पष्ट नहीं होता। यह किसी प्रकार संभव नहीं, कि परित्याग किया अधीत ज्ञान अथवा श्रुति-समुदाय शारीरधातु रुधिर से सना हुआ हो। विष्णुपुराण में इस ज्ञान के परित्याग के लिये जिन पदों का प्रयोग किया गया है, उनके आधार पर यह कहा जाता है, कि याज्ञवल्क्य ने अधीत यजुषों को वमन कर गुरु को दे दिया [छर्दयित्वा ददौ तस्मै]। चिन्तनीय है, कि ज्ञान अथवा अधीत श्रुति समुदाय के वमन का क्या तात्पर्य हो सकता है? निश्चित ही भुक्त अन्न आदि के समान ज्ञान का वमन होना संभव नहीं। भुक्त अन्न आदि का आधार उदर तथा ज्ञान का आधार मस्तिष्क है। अन्न आदि के वमन में भौतिक रुधिर का संमिश्रण संभव है, ज्ञान के वमन [परित्याग] में ऐसा कहना या समझना सर्वथा अवैज्ञानिक तथा अबुद्धिमत्तापूर्ण है।

तब उक्त कथन का यही तात्पर्य संभव है, कि जिस ज्ञान को खून-पसीना एक करके याज्ञवल्क्य ने प्राप्त किया, उसका अब उसे परित्याग करना पड़ रहा है। खून-पसीने की कमाई को छोड़ने के अवसर पर उक्त पदों द्वारा ऐसी भावना का प्रकट किया जाना उपयुक्त है। इसी अभिप्राय से यजुषों का 'रुधिराक्त' होना कहा जा सकता है। शारीर रुधिर धातु से ज्ञान रूप वेद का सना हुआ होना किसी प्रकार संभव नहीं। फलतः विष्णुपुराण के वर्णन के आधार पर ऐसा समझना सर्वथा निराधार है कि याज्ञवल्क्य ने अधीत यजुषों का 'वमन' अन्नवमन के समान किया और वह शारीर धातु रुधिर से सना हुआ था।

(2) उक्त विवेचन के आधार पर हमें यजुषों के मूर्त्तरूप कहने जाने की भावना को समझने में सहयोग प्राप्त होता है। ग्रन्थ या पुस्तक के रूप में उस ज्ञान को मूर्त्त रूप कहना सर्वथा व्यर्थ होगा। ग्रन्थ को लौटा देने पर भी उसमें निहित ज्ञान का विशेषज्ञ व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उसका चाहे जब उपयोग कर सकता है, फिर वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य को केवल यजुषों के ग्रन्थ दिये हों, और उनको वह वापस मांग रहा हो, ऐसी बात नहीं है। उसका आग्रह अथवा आदेश तो यजुषों के रूप में अधीत ज्ञान को छुड़वा देने का है। याज्ञवल्क्य का उस ज्ञान को मूर्त्त रूप में छोड़ने का यही तात्पर्य हो सकता है, कि वह उसका कदापि उपयोग नहीं करेगा। न वह किसी को उसका अध्ययन करायेगा, न उसका प्रचार व व्याख्यान आदि द्वारा विस्तार करेगा। भविष्यत् में उस ज्ञान का सर्वथा उपयोग न करना ही मूर्त्त रूप से उसका परित्याग है। **अध्ययन-अध्यापन आदि में ज्ञान का सतत उपयोग उसका मूर्त्त रूप माना जा सकता है, अन्य कुछ नहीं। याज्ञवल्क्य ने उसी का परित्याग किया।** भुक्तान्न के वमन के समान अन्य कोई मूर्त्त रूप ज्ञान का संभव नहीं।

(3) ज्ञानरूप यजुषों का उगलना या वमन करना किस रूप में संभव है, इस पर उक्त विवेचन से उपयुक्त प्रकाश पड़ जाता है। पुराण के उक्त प्रसंग में 'छर्दि' धातु का प्रयोग सर्वथा परित्याग कर देने अर्थ में हुआ है। वस्तुतः अन्य के कहे व बतलाये को उसी

रूप में उलटकर कह देने के अर्थ में इस धातु का प्रयोग होता है। इसी भाव को स्वयं विष्णु पुराण में आगे 'विसृष्टानि' पद 'यजूंषि' का विशेषण देकर स्पष्ट किया है। **जैसा पढ़ा था, उसी तरह गुरु के सामने उलट दिया, उसका कभी किसी तरह का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा के साथ गुरु को वापस दे दिया। यही छर्दन (वमन) का तात्पर्य है**। इन्हीं पदों से पुराण में कहा–'छर्दयित्वा ददौ तस्मै', उलटकर वह ज्ञान गुरु को दे दिया। आज भी ऐसी भावना को प्रकट करने के लिये हिन्दी में लोकोक्ति है, उसने बात को बहुत छिपाना चाहा पर मैंने उससे सब उगलवा लिया है। इसी को अन्य प्रकार से कहा जाता है–आखिर मार पड़ने पर उसने अपने आप सब उगल दिया। यह 'उगलना' या 'उगलवाना' अन्नादि के समान 'वमन' नहीं है, प्रत्युत किसी जानकारी को बाहर निकालना या निकलवाना है।

साहित्य में इस प्रकार के प्रयोग अनेकत्र देखे जाते हैं। महाकवि कालिदास ने 'गृ' निगरणे धातु का प्रयोग-दूसरे व्यक्ति के कथन व उपदेश को उसी रूप से उलट देने (उलटकर कह देने) के अर्थ में किया है। रघुवंश महाकाव्य के 14वें सर्ग में प्रसंग है, लोकापवाद से त्रस्त राम ने सीता को जंगल में वाल्मीकि के आश्रम के समीप छुड़वा देने का संकल्प किया। एकान्त में सब भाईयों से अपना संकल्प प्रकट किया और लक्ष्मण को यह कार्य कर देने का आदेश दिया। कुछ काल पूर्व सीता ने जंगल में जाने की दोहद भावना प्रकट की थी। इसी बहाने को सामने कर लक्ष्मण एक दिन सीता को रथ में बैठाकर वाल्मीकि के आश्रम की ओर जंगल में ले गया। अभी तक लक्ष्मण ने सीता के सम्मुख उसे जंगल में लाने के वास्तविक अभिप्राय को प्रकट नहीं किया था। जंगल में आ, नाव द्वारा गंगा पारकर वाल्मीकि आश्रम के समीप पहुँच, लक्ष्मण ने सीता को वहां लाने का यथार्थ उद्देश्य प्रकट किया। उसने राम के कहे उन्हीं शब्दों को दुहरा दिया, जो राम ने सीता के विषय में लक्ष्मण को आदेश दिया था। कालिदास ने इसके लिये **'महीपतेः शासनमुज्जगार'** पदों का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है–'राजा के आदेश को उगल दिया।' पूरा श्लोक इस प्रकार है–

अथ व्यवस्थापितवाक् कथञ्चित् सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः।
औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार॥ 14/53

उक्त श्लोक में 'उज्जगार' क्रियापद का अर्थ मल्लिनाथ ने 'उद्गीर्णवान्' लिखा है। उगल देने के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ, इसका है नहीं। शासन (आज्ञा-आदेश) का उगल देना यही है, कि जो शब्द राम ने कहे, उन्हीं को लक्ष्मण ने सीता के सम्मुख कह दिया, अपनी ओर से उसने कुछ भी सम्मिश्रण नहीं किया। ऐसा ही भाव याज्ञवल्क्य सम्बन्धी गाथा में 'छर्दन' का है। इतना विशेष है कि यहां उसके सर्वथा परित्याग कर देने की भावना है। किसी भी जगह खाद्य आदि के वमन के समान स्थिति नहीं है।

(4) ऐसी दशा में यह समझने के लिये कोई कठिनाई नहीं रहती, कि वैशम्पायन के अन्य शिष्यों द्वारा तित्तिर होकर उस वान्त (परित्यक्त) ज्ञान को ग्रहण करने का क्या

तात्पर्य होना चाहिये। वमन को चाटना यह एक बहुत घृणित वर्णन है। कहा जाता है, कि ब्राह्मण होकर वमन को चाटना संभव न था, ब्राह्मण के लिये यह एक अतिनिन्दनीय कार्य हो सकता है; इसलिये वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिर बनकर वान्त को चाटा।

न केवल ब्राह्मण के लिये, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के लिये वान्त को चाटना जैसा कार्य अत्यन्त घृणित है। तित्तिर बनकर चाट लेने से ब्राह्मणत्व सुरक्षित रह गया, ऐसा कहना या समझना केवल एक भ्रान्त धारणा से मन को बहलाना मात्र है। फिर यह भी सर्वथा अप्रामाणिक तथा कल्पनामात्र है, कि वैशम्पायन के ब्राह्मण शिष्य तीतर बन गये और वान्त को चाटकर फिर ब्राह्मण हो गये। ऐसी निराधार बात को कौन विचारशील व्यक्ति मान सकता है? **इस घटना में ऐतिहासिक तथ्य इतना हो सकता है, कि याज्ञवल्क्य ने जिन यजुः शाखाओं को वैशम्पायन से पढ़ा था उनका सर्वथा परित्याग कर दिया, पर वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने याज्ञवल्क्य से परित्यक्त शाखाओं का पूर्ववत् अध्ययन तथा आगे अध्यापन व प्रचार-प्रसार आदि कार्य जारी रखा। इसी स्थिति को काव्य का रूप देने वाले व्यक्तियों ने उक्त रूप में वर्णन किया है।** इस दिशा में यह भी विचारणीय है, कि कृष्ण शाखाओं में केवल एक संहिता 'तैत्तिरीय' नाम से निर्दिष्ट की जाती है, अन्य संहिताओं के–उनके प्रवक्ताओं आदि के आधार पर–विभिन्न 86 नाम हैं। फलतः विष्णुपुराण के इस याज्ञवल्क्य सम्बन्धी वर्णन से यह परिणाम निकलता है, कि याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन से यजुषों की जिस शाखा का अध्ययन किया था, वह तैत्तिरीय शाखा थी, गुरु के आदेश पर शिष्य (याज्ञवल्क्य) ने न केवल उसी शाखा के अध्यापन आदि का परित्याग कर दिया; प्रत्युत उस वर्ग की समस्त शाखाओं के अध्ययनाध्यापन के परित्याग का प्रण कर लिया।

यजुषों की समस्त शाखाओं का विभाजन वैशम्पायन तथा वेद व्यास आदि के काल से पर्याप्त पहले हो चुका था। तैत्तिरीय संहिता का प्रवक्ता भी 'तित्तिरि' नामक ऋषि था, जिसका उल्लेख पाणिनि ने एक सूत्र 'तित्तिरीवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्' (अष्टा. 4/3/102) में किया है। ब्राह्मणों के 'तित्तिर' बनने की कल्पना सर्वथा निराधार है। विष्णुपुराण के लेख का ऐसा तात्पर्य समझना उसके साथ अन्याय है। पाणिनि के उक्त सूत्र में एक अन्य शाखा-प्रवक्ता ऋषि 'वरतन्तु' का उल्लेख है। कालिदास द्वारा रघुवंश महाकाव्य (5/1-20) में किये गये वर्णन के अनुसार यह ऋषि राजा रघु के काल में था। अयोध्या के इक्ष्वाकु वंश में महाराज रघु श्रीराम के पूर्वजों में थे। महाकवि कालिदास ने वरतन्तु का नाम मन्त्रकृत्= मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में लिखा है (रघु. 5/4)। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं के प्रवक्ता ऋषियों में 'वरतन्तु' भी एक थे, जिनकी प्रोक्त शाखा 'वारतन्तवीय' नाम से प्रसिद्ध है। राजा रघु का काल महाभारत युद्ध अथवा कौरव-पाण्डव युद्ध से अतिप्राचीन है। कालिदास का वर्णन साधार माना जाने पर यह निश्चित है, कि **कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के काल से बहुत पहले वेद की शाखाओं का प्रवचन अथवा विभाजन हो चुका था। वेद व्यास ने**

अपने काल में उनका पुनः संस्करण अथवा सम्पादन किया तथा शिष्यों द्वारा उनके अध्ययनाध्यापन एवं प्रचार प्रसार आदि का आयोजन किया।

वैशम्पायन के शिक्षा केन्द्र में यजुषों की सत्ताईस शाखाओं के अध्ययनाध्यापन का प्रबन्ध था, ऐसा विष्णुपुराण में उल्लेख मिलता है–

यजुर्वेदतरोश्शाखाः सप्तविंशन्महामुनिः।
वैशम्पाययननामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै॥
शिष्येभ्यः प्रददौ ताश्च जगृहुस्तेऽप्यनुक्रमात्। (वि.पु. 3/5/1-2)

ये सब शाखा कृष्ण यजुर्वेद की थीं। शुक्लयजुः की शाखाओं के अध्ययन का वहां कोई प्रबन्ध न था; यह विष्णुपुराण के वर्णन से स्पष्ट है, जहां बताया गया है, कि याज्ञवल्क्य के गुरु वैशम्पायन को उस वेद का ज्ञान न था, जिसका अध्ययन बाद में याज्ञवल्क्य ने किया–

याज्ञवल्क्यस्तदा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम्।
यजूंषि तानि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरौ॥
एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः।
अयातयाम संज्ञानि यानि वेत्ति न तद्गुरुः॥ 3/5/27-29

इस वेद का अध्ययन याज्ञवल्क्य ने आदित्य नामक आचार्य से किया। विष्णुपुराण के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है, कि याज्ञवल्क्य ने आकाश स्थित भौतिक आदित्य मण्डल की तपस्या द्वारा उससे यजुषों का ज्ञान प्राप्त किया। आदित्य ने उस समय अश्व का रूप धारण कर उपदेश दिया, इसी कारण इस वेद का नाम 'वाजसनेय' है–

यजूंषि यैरधीतानि तानि विप्रैर्द्विजोतम।
वाजिनस्ते समाख्याताः सूर्योऽप्यश्वोऽभवद्यतः॥ 3/5/2

विष्णुपुराण का यह वर्णन उसी रीति के अनुसार है, जिसे किसी वस्तु तत्त्व के वर्णन में पुराणकर्त्ताओं द्वारा प्रायः अपनाया जाता रहा है। किसी घटना को सीधा न कहकर अद्भुत चमत्कारपूर्ण रीति पर प्रस्तुत किया जाता है। जैसे तित्तिरि ऋषि के नाम से ब्राह्मणों के तीतर बन जाने की कथा घड़ ली गई, ऐसे ही आदित्य द्वारा यजुर्वेद के अध्यापन की घटना को यह रूप दिया गया। यह संभव है, ऋषि का नाम 'आदित्य वाजसनि' रहा हो। संस्कृत साहित्य में व्यक्ति नाम को भी उसके पर्यायवाची पदों के द्वारा प्रयोग करने में कोई अनौचित्य नहीं माना जाता; इसी कारण 'आदित्य' के स्थान पर दिवाकर, रवि, सूर्य, विवस्वान्, भास्कर आदि पदों का प्रयोग खुले रूप में हुआ है; और उसे स्वतन्त्रतापूर्वक आकाश स्थित भौतिक तेजोमण्डल समझ उसी रूप में उसका वर्णन कर दिया गया है। नाम के 'वाजसनि' अंश को लेकर सूर्य को उपदेश के लिए 'अश्व' का रूप धारण कर लेने की कल्पना में कोई संकोच नहीं किया गया। **ध्यान देने की बात है, जब आकाश स्थित सूर्य उपदेश के**

लिये 'अश्व' बन गया, तब पृथिव्यादि लोकों को प्रकाश कौन दे रहा होगा? फिर क्या सूर्य का 'अश्व' रूप धारण करना किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से सिद्ध किया जा सकता है? क्या यह भी संभव है, कि अश्व के रूप में वेदों का शुद्ध उच्चारण व अध्यापन हो सके, तथा उसी रूप में वेद प्रतिपाद्य गम्भीर तत्त्वों का उद्‌घाटन किया जा सके?

वस्तुत: यह सब चमत्कृत वर्णन पौराणिक कल्पनाओं का परिणाम है। तथ्य इतना ही समझना चाहिये, कि याज्ञवल्क्य जब एक ऐसे शिक्षाकेन्द्र से बहिष्कृत हो गया, जहां केवल कृष्ण यजुषों के अध्यापन का प्रबन्ध था, तब उस घटना की पृष्ठभूमि का स्मरण कर उसने संकल्प किया, कि अब ऐसे शिक्षाकेन्द्र में अध्ययन करना उचित होगा, जहां दूसरे वर्ग की शाखाओं का अध्यापन कराया जाता हो। इसके परिणामस्वरूप वह 'आदित्य वाजसनि' के शिक्षाकेन्द्र में चला गया और गुरु की भक्तिपूर्वक सेवाकर उसने वेद का अध्ययन किया, जिसको वैशम्पायन ने न पढ़ा था, न उसके शिक्षाकेन्द्र में उसके अध्यापन का प्रबन्ध था।

क्या शुक्ल यजुर्वेद अर्वाचीन और कृष्ण यजुर्वेद प्राचीन है?

याज्ञवल्क्य द्वारा अधीत यजुषों को यहां 'अयातयाम' क्यों कहा गया? विचारणीय है। अभी तक ये यजुष् लोक में विदित नहीं थे, ऐसी बात नहीं; इस समय के बहुत पहले के साहित्य वाल्मीकि रामयण (4.3.28) और वेदों (ऋ 10.90) में भी यजुष् का स्पष्ट निर्देश है। इसलिये यह यजुष् लोक में अभी तक अविदित थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनकी अयातयामता अथवा नवीनता याज्ञवल्क्य के लिये इसी आधार पर संभव है, कि याज्ञवल्क्य ने अभी तक यजुषों की केवल कृष्णवर्ग की शाखाओं का अध्ययन किया था, शुक्लवर्ग से वह अपरिचित था; उसने पहले-पहल इसका अध्ययन किया, इसी कारण उसके लिये यह सब 'अयातयाम' था। वह जिस परम्परा में अभी तक पढ़ता रहा, वहां यजुषों के इस वर्ग के अध्ययनाध्यापन का प्रबन्ध न था, क्योंकि वह वर्ग दूसरी परम्परा का अनुयायी था।

यजुषों में कृष्ण और शुक्ल का भेद उनमें केवल ब्राह्मणभाग के मिश्रण और अमिश्रण के आधार पर है। शुक्ल यजुर्वेद में जिसे वाजसनेयिसंहिता अथवा माध्यन्दिन संहिता कहा जाता है—दर्श पौर्णमास आदि सब यज्ञों में उपयुक्त होने वाले मन्त्रों का यथा योग्य क्रम निर्दिष्ट है। अर्थात् दर्श आदि-यागों में यजुर्मन्त्रों का उपयोग यथायोग्य उसी क्रम से होता है, जो क्रम शुक्लयजुर्वेद में है, उसमें ब्राह्मणभाग का सांकर्य नहीं है। अत: उक्त यज्ञों के अनुष्ठान में याज्ञिकों को उसके अनुसार कोई व्यामोह अथवा किसी प्रकार का भ्रम या असामञ्जस्य नहीं होता, इसी आधार पर इन यजुषों को 'शुक्ल' कहा जाता है। यजुषों के दूसरे वर्ग में ब्राह्मणभाग के संमिश्रण अथवा सांकर्य के कारण याज्ञिकों को अनुष्ठान काल में केवल मन्त्रभाग का यथायथ उपयोग करने के लिये अनेक प्रकार की असुविधाएं सामने आती हैं। मन्त्रों का अनुक्रम भी यज्ञिय अनुष्ठान के अनुरूप वहां नहीं है, इस कारण

उनके आधार पर यज्ञानुष्ठान का मार्ग दुर्ज्ञेय हो जाता है; इसीलिए उनको यह 'कृष्ण' नाम दिया गया है। इन नामों में याज्ञवल्क्य के वमन करने या न करने का कोई आधार नहीं है।

मध्यकाल के अनन्तरवर्त्ती कतिपय आचार्यों को यह भ्रान्ति रही है, कि कृष्ण यजुर्वेद प्राचीन और शुक्ल अर्वाचीन है। उनकी भ्रान्ति का आधार कदाचित् विष्णुपुराण का वह लेख रहा है, जहां याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त अथवा अधीत यजुषों को 'अयातयाम' बताया है। संभवत: उन लेखकों ने इस तथ्य पर विचार नहीं किया, कि मूलभूत यजुर्वेद (वाजसनेयि संहिता) के प्रादुर्भाव का काल अतिप्राचीन है। पुराणकर्त्ता के चमत्कार तथा अलंकारपूर्ण लेख की यथार्थता की ओर ध्यान न देकर केवल आपातत: प्रतीयमान अर्थ को यथार्थ समझकर अपनी सम्मति को प्रकट कर दिया। ऐसी भ्रान्ति के आधार पर काशिकाकार तथा भट्टोजिदीक्षित आदि ने 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अ. 4/3/105) पाणिनिसूत्र के प्रत्युदाहरण में 'याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि' प्रयोग दिया है। परन्तु ऐसे प्रयोगों में उक्त सूत्र की प्रवृत्ति को रोकने के लिये भट्टोजिदीक्षित आदि के बहुत पहले तथा पाणिनि काल के लगभग समीप होने वाले वार्तिककार कात्यायनमुनि ने 'याज्ञवल्क्यादिभ्य: प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्' वार्तिक बनाया। उसके सामने यह तथ्य स्पष्ट रहा है, कि भाल्लव, शाट्यायन, ऐतरेय आदि ब्राह्मण प्रवचनकर्त्ताओं के समान काल में याज्ञवल्क्य का अस्तित्व था, इसलिये 'याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि' में भी 'पुराणप्रोक्तेषु' सूत्र (4/3/105) से 'णिनि' प्रत्यय प्राप्त होता है, जो प्रयोग की दृष्टि से अभीष्ट नहीं है, इसलिये वार्तिक बनाकर कात्यायन ने उसका निषेध किया। पुराण का लेख कात्यायन के सामने भी रहा होगा, पर उसने पुराणलेख की यथार्थता को समझा था, इसीलिये उसको यह भ्रान्ति नहीं हुई, कि याज्ञवल्क्यप्रोक्त ब्राह्मण नवीन है।

इस विषय में मुख्यरूप से एक बात और ज्ञातव्य है। वह है—कृत, उपज्ञात और प्रवचन पदों के अर्थों का अन्तर समझ लेना। किसी की नवीन नचना 'कृत' कही जाती है। यद्यपि औपचारिक रूप से इसका प्रयोग 'दृश्' धातु के अर्थ में होकर वेद द्रष्टा ऋषियों के विषय में अनेकत्र इसका उपयोग आचार्यों ने किया है। मूल आधार के साथ अपने प्रतिभात व ज्ञात अर्थों को जोड़कर किसी रचना को प्रस्तुत करना 'उपज्ञात' की श्रेणी में आता है। पुरानी रचनाओं का यथावसर आवश्यकतानुसार पुन: संस्कार 'प्रवचन' कहा जाता है। अनेक बार ऐसे प्रवचनकर्त्ताओं के नाम पर पुरानी रचनाएँ प्रसिद्ध हो जाती हैं। आयुर्वेद की अग्निवेशरचित संहिता ऐसे ही आधार पर आज चरकसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्य ने जिन ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन किया वे प्राचीन रहे हों, यह संभव है। इसी प्रकार का स्पष्टीकरण पं. उदयवीर शास्त्री जी के ग्रन्थों में भी मिलता है।

याज्ञवल्क्य ने पहले गुरु के रुष्ट हो जाने के कारण जिस शिक्षाकेन्द्र का तथा शिक्षा परम्परा का परित्याग कर अन्य शिक्षाकेन्द्र का आश्रय लिया, उसके प्रचार प्रसार के लिये सर्वात्मभाव से अपने आपको अर्पणकर देना याज्ञवल्क्य के लिये स्वाभाविक था। प्रतियोगिता में सामने आ जाने पर यह कोई अनहोनी बात नहीं, कि वैदिक शिक्षा के उस वर्ग के

अभ्युत्थान का श्रेय अपने काल में याज्ञवल्क्य को मिला और वह सब साहित्यकार्य उसके नाम पर प्रसिद्ध हुआ। याज्ञवल्क्य का वह प्रोक्त साहित्य है, कृत नहीं।

इस प्रकार यजुर्वेद से सम्बन्धित पुराणप्रोक्त लोकप्रसिद्ध गाथा के तात्पर्य को तार्किक रीति से स्पष्ट करने का मेरा यह विनम्र प्रयास मात्र है। यही आर्ष दृष्टि है। इस दृष्टि का आश्रय लेकर यदि हम वाङ्मय की गहराई में जायें तो अनेक बहुमूल्य रत्न प्राप्त हो सकते हैं। मेरा मानना है कि अन्य पौराणिक कल्पनाओं की भी जिससे इनके वास्तविक अभिप्राय को समझा जा सके, व्याख्या होनी चाहिए।

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (1-5) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

वेदों में भू-विज्ञान विषयक वैज्ञानिक तथ्य

–डॉ० सुरेन्द्रकुमार
कुलपति (गु.कां.वि.वि.)

पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों मतों के अनुसार वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, अतः उनमें उपलब्ध ज्ञान भी प्राचीनतम है। वे उस ज्ञान के प्राचीनतम स्रोत हैं। वेदों में भूविज्ञान विषयक अनेक तथ्य रचनात्मक और गुणात्मक शैली में हमें प्राप्त होते हैं। जब हम वेदों के पुरुष सूक्त का अध्ययन करते हैं, तो हमें भू अर्थात् पृथिवी की उत्पत्ति और उसके उत्पत्ति क्रम की जानकारी इस प्रकार मिलती है। कुछ मन्त्रांश प्रस्तुत हैं–

1. **"ततो विराडजायत.....पश्चाद् भूमिमथो पुरः।"** (ऋक् 10.90.5; यजु. 31.5)
2. **"पद्भ्यां भूमिः"** (ऋक्. 10.90.14; यजु. 31.13)

वेदभाष्यकार ऋषि दयानन्द इनका वैज्ञानिक अर्थ करते हुए लिखते हैं–"यह जो आकाश है, सो विराट् कहाता है। वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हो प्रकाशमान हो रहा है।" आकाश आदि के उत्पत्तिक्रम में प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व किन्तु पञ्च तत्त्वों में सबके पश्चात् पृथिवी की उत्पत्ति हुई और यह पृथिवी 'पद्भ्याम्' अर्थात् पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से उत्पन्न हुई है।[1] स्थूल रूप में जब यह पृथिवी बनी तो अस्तित्व में आने के कारण "भूः" कहलाई।[2] उत्पन्न होने वाली होते हुए भी यह "अदितिः" है अर्थात् अखण्ड्य और नाशरहित है।

यहाँ विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु है नहीं। इस नाम में इसका वैज्ञानिक रहस्य छुपा हुआ है। वेद में इसे 'अदिति' कहना[3], इसके इस वैज्ञानिक तथ्य को अवगत कराता है कि यह पृथिवी स्थूल रूप से निर्मित होते हुए भी कारणरूप सामर्थ्य से अखण्ड्य और नाशरहित है। यह नाम उस वैदिक त्रैतवादी सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है जिसमें मूलप्रकृति को नित्य पदार्थ माना गया है। वेदों में इसको "उर्वी" और "पृथिवी" नाम देना इसके विस्तार और फैलाव की विशेषता का बोध कराता है। एक मन्त्र में **"पृथिवी पप्रथत्"**[4] कहकर स्वयं वेद ने इसकी निरुक्ति दी है। संहिता, ब्राह्मण, निरुक्त आदि व्याख्याग्रन्थों में इस निरुक्ति को और अधिक स्पष्ट किया है–

– **"प्रथनात् पृथिवी-इत्याहुः"** (निरुक्त 1.14)
– **"सो ऽप्रथत सा पृथिवी-अभवत् तत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम्"** (तै.सं. 7.1.5.1)
– **"यद् अप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम्"** (तै.ब्रा. 1.1.3.5)

अर्थात्–'पृथिवी का पृथिवीत्व इस कारण है कि वह अत्यन्त विस्तृत है।' आधुनिक विज्ञान के मतानुसार पृथिवी की मध्यमान परिधि लगभग 40,000 कि.मी. है और मध्यमान व्यास 12,732 कि.मी. है।

वेदों में पृथिवी के जो अनेक नाम आये हैं, उनमें एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक नाम है "गौः"। इस नाम के द्वारा वेद ने यह वैज्ञानिक जानकारी दी है कि यह गमनशील या गतिशील है। निरुक्तकार आचार्य यास्क ने इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है–**"यद् दूरं गता भवति"** (2.5) अर्थात् जो दूर तक गति करती है। धात्वनुसारी अर्थ **'गच्छति-इति गौः'** भी इसी गतिमत्ता के वैशिष्ट्य का बोध कराता है। निम्नलिखित वेदमन्त्रों में तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में पृथिवी के स्वकक्षा में परिभ्रमण का उल्लेख किया गया है–

1. **"या गौः वर्तनिं पर्येति"** (ऋक् 10.65.6)

अर्थात्–पृथिवी तथा इस प्रकार के जो अन्य लोक हैं, वे अपने-अपने वर्तनि=निर्धारित मार्ग पर अर्थात् कक्षा में घूमते रहते हैं।

2. **"आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः।"** (यजु. 3.6)

अर्थात्–"यह पृथिवीगोलक=गति करने वाला भूगोल, अपने आदित्य रूप पिता के चारों ओर गति करता हुआ और अपने उत्पत्ति निमित्त जल के साथ गति करता हुआ, अन्तरिक्ष में चारों ओर घूमता है तथा अपनी कक्षा में भी घूमता है।" (यजुर्वेद भाष्य, ऋषि दयानन्द) 'जल' पृथिवी की माता इस कारण है क्योंकि यह जल महाभूत से उत्पन्न होती है–**"अद्भ्यः पृथिवी"**[5]।

ऋग्वेद का आगे उद्धृत मन्त्र वैज्ञानिक दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसमें पृथिवी तथा अन्य ग्रहों की, एक साथ तीन वैज्ञानिक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इसमें **"अक्षेणेव चक्रिया"** अर्थात् **'अक्ष पर घूमते हुए पहिये'** की उपमा देकर यह बताया गया है कि पृथिवी, सूर्य आदि लोक गोलाकार हैं और अपने अक्ष पर घूमते हैं। साथ ही **"पृथिवीं तस्तम्भ"** शब्दों में आकर्षण सिद्धान्त का रहस्योद्घाटन किया है कि सूर्य पृथिवी को अपनी आकर्षण शक्ति से अन्तरिक्ष में थामे हुए है। मन्त्र है–

इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गाः, अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्व तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम्॥

(ऋक् 1.89.4)

अर्थात्–'इन्द्र=सूर्य की महत्ता यह है कि वह समुद्र आदि से जलग्रहण करके आकाश में ले जाकर उन्हें बरसाता है। जैसे अक्ष पर घूमता पहिया होता है, उसी प्रकार अपने अक्ष पर घूमते हुए पृथिवी और द्युस्थित लोकों को वह सूर्य अपनी शक्ति (आकर्षण शक्ति) से थामे हुए है।' वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें सूर्य को लोकों और जीवों का धारणकर्त्ता कहा गया है। वेदों के व्याख्याग्रन्थरूप वैदिक साहित्य में इन सभी वैज्ञानिक जानकारियों को

स्पष्ट शैली में समझाया गया है[6]। पृथिवी के गोलाकार रूप की जानकारी शतपथ ब्राह्मण ने कितने स्पष्ट शब्दों में वर्णित की है, पाठक विशेष रूप से ध्यान दें–

"परिमण्डलः उ वा इयं (पृथिवी) लोकः"। (7.1.1.37)

अर्थात्–'यह पृथिवी-लोक गोलाकार है।' इतने स्पष्ट कथनों के होते हुए भी इस खोज का श्रेय किसी और को कैसे दिया जा सकता है कि सर्वप्रथम पाश्चात्त्य वैज्ञानिक गैलीलियो ने यह खोज की है कि 'पृथिवी गोलाकार है'। वेदों से लेकर लौकिक संस्कृत-साहित्य तक पग-पग पर पृथिवी आदि लोकों को **'गोलक'** कहा गया है। पृथिवी को **'भूगोल'** नाम देना ही यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारत में इस वैज्ञानिक सत्य को भलीभांति जान लिया गया था। पाश्चात्त्य जगत् तो सत्रहवीं शताब्दी तक अन्धविश्वास और अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ था। स्पेन के वैज्ञानिक गैलीलियो ने जब यह कहा कि 'पृथिवी गोल है', तो यूरोप के न्यायाधीशों ने बाइबिल के सिद्धान्त के विरुद्ध सिद्धान्त प्रस्तुत करने के कारण दस वर्ष की कठोर कारावास की सजा सुनाई, जहाँ यातनाओं से उसकी मृत्यु हो गई। एक अन्य वैज्ञानिक ब्रूनो को इसी अपराध में तेल छिड़कर जला डाला गया था।

अब पृथिवी की दूसरी विशेषताओं को लेते हैं। वेदों में पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा आदि लोकों को एक नाम **'ग्रहः'** भी दिया गया है[7]। यह भी वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम है। ग्रहण करने से ये सभी 'ग्रह' हैं। इससे यह ज्ञान होता है कि इन सभी ग्रहों में एक-दूसरे को पकड़े या थामे रखने की शक्ति है, जिसे वैज्ञानिक भाषा में 'आकर्षण शक्ति' कहा जाता है। इसे शक्ति सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसे **"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः"**–'एक आन्तरिक शक्ति है जो पदार्थों को परस्पर निकट लाती है', यह कहकर आन्तरिक शक्ति–सिद्धान्त नाम दिया है।[8] यह वस्तुतः आकर्षण सिद्धान्त ही है।

यह पृथिवी **'अग्निगर्भा'** है। इसके अन्तस् में अत्यधिक ऊष्णता है। कभी-कभी वही ऊष्णता ज्वालामुखी के रूप में फटकर बाहर निकलती है। इस तथ्य की जानकारी वैदिक साहित्य में "आग्नेयी" और "अग्निगर्भा" कहकर दी है–**"आग्नेयी पृथिवी"** (तां. ब्रा. 15.4.8), **"अग्निगर्भा पृथिवी"** (शत.ब्रा. 14.9.4.21)। गोपथ ब्राह्मण में तो **"अयस्मयी पृथिवी"** (गो.उ. 2.7)='पृथिवी अयस् से युक्त है' कहकर यह ज्ञान मनुष्यों को दिया है कि अयस् अर्थात् लोहा, सोना, चांदी आदि सभी मिश्रित धातुएं पृथिवी के अन्दर विद्यमान हैं। निघण्टु में, वेदों में आये पृथिवी के इक्कीस नाम परिगणित हैं।[9] वे सभी तथा वेदों में गुणवाचक अन्य अनेक नाम हमें पृथिवी की पृथक्-पृथक् विशेषताओं को बतलाते हैं। इनके अतिरिक्त वर्णनात्मक उल्लेख भी पर्याप्त संख्या में हैं, जिनमें पृथिवी-सम्बन्धी वैज्ञानिक विशेषताओं को उद्घाटित किया है। उन सबको एकत्र किया जाये तो यह विषय एक बृहत् शोधग्रन्थ का रूप धारण कर लेगा। इस लेख में केवल मौलिक संकेत मात्र हैं। उन नामों में से कुछ के अर्थों पर विचार करना यहाँ प्रासंगिक रहेगा। पृथिवी का नाम

'**भूमिः**' इस कारण पड़ा क्योंकि प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति के अनुकूल वातावरण होने से वे इस पर उत्पन्न होकर रहते हैं।[10] उनका निवास स्थान होने के कारण '**क्षितिः**'[11], जीवनरक्षक तत्त्वों से परिपूर्ण होने से '**अवनिः**'[12] और सबकी पोषिका अर्थात् पोषकगुणों से युक्त होने के कारण इसका '**पूषा**' नाम है।[13] महान् बल, गुण आदि से युक्त होने के कारण '**मही**' है।[14] वेद में हमें यह भी बताया गया है कि पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि लोक प्रत्येक सृष्टि में एक जैसी निर्माण प्रक्रिया युक्त और इसी स्वरूप-गुण वाले होते हैं, जैसे वर्तमान सृष्टि में हैं–

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ (ऋक् 10.190.3)

–सूर्य, चन्द्र द्युलोक, पृथिवी अन्तरिक्ष आदि को परमात्मा ने उसी प्रक्रिया से बनाया है जैसे पूर्व सृष्टि में बने थे।

पर्याय नामों के अतिरिक्त पृथिवी की वैज्ञानिकता को बतलाने की एक अन्य पद्धति भी वेदों में पाई जाती है, वह है युगल नामों में पृथिवी का उल्लेख। इन युगल नामों से जहाँ पृथिवी के प्राकृतिक गुणों का बोध होता है वहीं उसकी प्राकृतिक सम्बद्धता का भी ज्ञान होता है। '**द्यावा-पृथिवी**' कहकर जहाँ वेद इनमें पिता-माता का आरोप करके इनकी उत्पत्ति हेतुक स्थिति का वर्णन करते हैं वहीं वे माता-पिता के समान पोषक एवं पालक हैं, यह बताना भी लक्ष्य है।[15] समस्त प्राणी इनके पुत्ररूप हैं। ये लोक इनकी उत्पत्ति करके इन्हें धारण भी करते हैं।[16] ऋग्वेद 4.48.3 में 'द्यावापृथिवी' को '**वसुधिती**' विशेषण के द्वारा धन-धान्य की निधि बताया है। एक अन्य स्थल पर आलंकारिक वर्णन के माध्यम से पृथिवी को ऐसी '**चित्रा धेनु**' कहा है[17], जो प्राणियों को दूध, घी, मधु आदि खाद्य पदार्थों को उपलब्ध कराती है। यही धन और भोजन भी उपलब्ध कराती है।[18] यजुर्वेद में इसकी कृषि-उपयोगिता का उल्लेख है–

"भूमिरावपनं महत्" (यजु. 23.10)

अर्थात्–'यह भूमि भोज्य पदार्थों को बोकर प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण स्थान है।' 'कृषि सूक्त' में इस भूमि की कृषि-उपयोगिता का व कृषि करके अन्न-धन प्राप्त करने का विस्तृत वर्णन है।[19]

यहाँ संक्षेप में कुछ वैज्ञानिक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। ये विशेषताएं सैद्धान्तिक तथा मौलिक रूप में विद्यमान हैं। इन पर क्रियात्मक प्रयोगों से इन सिद्धान्तों का विशद स्पष्टीकरण और महत्त्वपूर्ण उपयोग सामने आयेगा। इन वर्णनों की सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि आज का पाश्चात्त्य वैज्ञानिक वर्ग इनके आविष्कार का श्रेय ले रहा है, किन्तु वैदिक वर्णनों ने उनके दावों को झुठलाते हुए यह सिद्ध किया है कि वेद ने आदिकाल में मनुष्य को इन सिद्धान्तों का ज्ञान दे दिया था। प्राचीन भारत में इन सिद्धान्तों के आधार पर ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ लिखे भी जा चुके हैं। उनमें इनका स्पष्ट उल्लेख और

विस्तार भी है। फिर भी जो व्यक्ति इस सच्चाई को नहीं स्वीकार करता, तो वह उसका दुराग्रह ही माना जायेगा।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. 'सृष्टिविद्याविषय', ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
2. यजु. 3.5; 7.29; 20.12; ऋक् 1.52.13; 3.55.13 आदि।
3. यजु. 4.19; 18.30; ऋक् 1.25.1, 15 आदि।
4. "स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च" ऋक् 2.15.2
5. तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मवल्ली, अनुवाक 01
6. "दाधार विष्णुः पृथिवीमभितो मयूरवैः" (तै.सं. 1.2.13.2) आदि।
7. "एषः वै ग्रहः, य एषः सूर्यः तपति" (शत. ब्रा. 4.6.5.1), "शंनो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा" (अथर्व. 19.9.10)
8. व्याकरण महाभाष्य
9. "गौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षमा, क्षा, क्षोणी, क्षितिः, अवनिः, उर्वी, पृथिवी, मही, रिपः, अदितिः, इला, निर्ऋतिः, भूः, भूमिः, पूषा, गातुः, गोत्रेति एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि" (निघ. 1.1)
10. ऋक् 1.52.12; 1.74.5; 3.30.9; यजु. 31.1; 26.13 आदि। 'भवन्तियस्याम्'।
11. ऋक् 1.65.3; 1.73.4; 1.151.4; 3.13.4 आदि।
12. ऋक् 1.81.3; 1.86.8; 1.140.5 आदि।
13. यजु. 14.25; 5.22; 10.30 आदि।
14. अथर्व. 14.1.2; यजु. 12.11 आदि।
15. ऋक् 7.53.2; 10.65.8; स्वसारौ ऋक् 1.85.5 आदि। "उपसर्प मातरं भूमिमेतामुरु व्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्" (ऋक् 10.18.10) "भूमिर्माता" (अथर्व. 6.120.2)
16. ऋक् 1.159.2; 1.160.2 आदि।
17. ऋक् 1.160.3; 6.70.1-2 आदि।
18. ऋक् 6.70.6; 1.159.5 आदि।
19. कृषि सूक्त, ऋक् 4.57

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (6-18) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

गृह्यसूत्रगत आर्ष-अनार्ष-विमर्श

–प्रो. वीरेन्द्र कुमार अलंकार

अध्यक्षचर, संस्कृत विभाग एवं
अध्यक्ष, दयानन्द वैदिक अध्ययन पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

वेदाङ्ग साहित्य में गृह्यसूत्रों का प्रमुख उपयोग याज्ञिक विधानों के अवबोध के लिए है। गृह्यसूत्रों में अनेक विषय ऐसे भी उपस्थित होते हैं, जिन्हें वेदानुकूल कहने में संकोच होता है। वैदिक साहित्य की उपयोगिता का मूल्यांकन तभी सम्भव है जब समूचे वैदिक साहित्य में एकान्विति मानी जाए। वेद में जो कुछ प्रतिपादित है, उसकी संगति या अनुकूलता परवर्ती साहित्य कहाँ तक कर पाया है, यही विचार महत्त्वपूर्ण है। जहाँ वह विचार वेद के प्रतिकूल दिखाई दे, वह चिन्त्य हो जाता है। इसीलिए वैदिक आचार्यों ने वेद को अन्त:प्रमाण मानकर तथा अन्य सम्पूर्ण साहित्य को परत:प्रमाण मानकर विवेचन आरम्भ किया है। इसी दृष्टि को आर्ष पद्धति कहते हैं।

एकान्विति अथवा एकसूत्रता के अभाव में स्मृतियों में, आस्तिक दर्शनों में भी विरोध बढ़ता जाएगा। इस सम्पूर्ण साहित्य में **'तात्पर्य'** प्रमुख तत्त्व है। यदि कोरा शब्दानुवाद किया तो दार्शनिक मतभेद बढ़ते जाएंगे। इसी का परिणाम है कि **सेश्वरसांख्य** और **निरीश्वरसांख्य** जैसी प्रकल्पनाएँ पीछा नहीं छोड़ रही हैं।

गृह्यसूत्रों की भी यही स्थिति है। अनेक स्थलों पर भ्रान्तियाँ दिखाई देती हैं। इनका समाधान इस पर निर्भर करता है कि इनके व्याख्यान में जहाँ जहाँ वेदानुकूलता स्पष्ट दिखाई पड़े, उन्हें सिद्धान्तपक्ष मान लिया जाए और सन्दिग्ध स्थलों पर शास्त्रवचन मानकर विश्वास न किया जाए, बल्कि उन्हें चिन्त्यकोटि में रख लिया जाए। अधिक शास्त्रस्तुति से प्रस्तुति प्रभावित होती है। इसलिए श्रद्धा रखते हुए भी तार्किक दृष्टि से विचार होना चाहिए। यदि निरुक्तकार के वचन **'तर्क: ऋषि:'** को आदर्श मान लें तो यह भी स्वत: स्फुरित हो जाएगा कि तर्कशीलता भी आर्ष पद्धति है।

गृह्यसूत्रों के तत्त्वार्थ को समझने के लिए उनकी शैली को जानना आवश्यक है। इसलिए यहाँ कुछ बातें ध्यातव्य हैं :–

1. गृह्यसूत्रों की अर्थवादशैली है। इसलिए प्रत्येक पंक्ति विध्यात्मक नहीं है।
2. गृह्यसूत्रों में प्राय: सिद्धान्तपक्ष के साथ-साथ अवैदिक रीतियाँ भी वर्णित हैं।

3. गृह्यसूत्रों के वचनों का पृथक्तः अर्थ न करके प्रसंग की पृष्ठभूमि अवश्य देखनी चाहिए।

4. गृह्यसूत्र प्रायः सूत्रात्मक हैं। इसलिए अनुवाद में अपूर्णता की सम्भावना हो सकती है।

5. पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसलिए प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ सम्भव नहीं है।

6. निर्वचन सहायक हैं, किन्तु कुछ टीकाकारों के निर्वचनों ने विषय को अस्पष्ट भी कर दिया है।

7. प्रक्षेप की सम्भावनाओं पर विचार होना चाहिए।

8. भाषा में सर्वत्र अभिधार्थ सम्भव नहीं है।

9. गृह्यसूत्रों के सारे वचन 'सिद्धान्त' नहीं है। अनेक वचन तत्कालीन रीतिरिवाजपरक भी हैं, कुछ उनमें अवैदिक भी हैं।

निष्पक्षतापूर्ण विचार से कभी-कभी आस्था और विश्वास आहत होते ही हैं। पुनरपि संवाद और चिन्तन से अनेक मैली परतें उठानी ही चाहिएँ। संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन में यह तो सर्वस्वीकार्य है कि अनुवादमात्र से या अभिधार्थमात्र से अनेक विसंगतियाँ जन्म ले लेती हैं। उदाहरण के लिए '**एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति**' यह पढ़कर यदि यह मान लिया जाए कि जिसे एक शब्द का भी सम्यग् ज्ञान हो गया और सही प्रयेग करने लगा तो वह स्वर्ग प्राप्त करेगा या **स्वर्गकामो यजेत** का अर्थ यह कर दिया जाए कि जिसे स्वर्ग चाहिए वह आज हवन कर ले, तो सम्पूर्ण शास्त्र अर्थहीन हो जाएगा। इसलिए मूल तात्पर्य को समझने के लिए भाष्य की परम्परा है। भाष्य में मूल प्रवक्ता का तात्पर्यार्थ समझाने का प्रयास होता है, यही आर्ष दृष्टि है। अब तात्पर्यार्थ जानने पर यदि यज्ञ अध्वरात्मक हैं तो गृह्यसूत्रों में ध्वर-हिंसा सिद्धान्तपक्ष कैसे हो सकता है? पाणिनि को पढ़े बिना सीधा महाभाष्य पढ़ने वाले और वेद की आत्मा को जाने बिना सीधा गृह्यसूत्र का व्याख्यान करने वाले विद्वान् पदे पदे भ्रान्त होंगे। इससे इतने अन्तर्विरोध बढ़ेंगे कि समाधान के मार्ग दीखने ही बन्द हो जाऐंगे—यही स्थिति अनार्ष व्याख्यान की भूमि तैयार करती है।

प्रस्तुत पत्र में कुछ ही प्रसंगों पर विचार किया गया है। ये हैं अन्नप्राशन, पुंसवन, मधुपर्क, सर्पबलि और शूलगव।

(क) अन्नप्राशन—

यह संस्कार छठे मास में किया जाता है—षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्,[1] षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्।[2] इस संस्कार में विचारणीय स्थल ये हैं—

1. आश्वलायन के अनुसार पुत्र का अन्नप्राशन मन्त्रसहित और पुत्री का मन्त्ररहित किया जाए–आवृतैव कुमार्यै।[3] इसके वृत्तिकार नारायण लिखते हैं–कुमार्यास्त्वमन्त्रकम् (अन्नप्राशनम्) कुर्यादिति।[4]

   वृत्तिकार की यह व्याख्या अनार्ष प्रतीत होती है। वेद में जहाँ स्त्री को सम्राज्ञी तक कहा गया, वहाँ ऐसी प्रकल्पना संगत प्रतीत नहीं होती। टीकाकार ने आवृता का अर्थ अमन्त्रक अन्नप्राशन कैसे कर दिया। यह चिन्त्य है। व्याकरण की दृष्टि से भी यह अर्थ कैसे सम्भव है? बल्कि यह अर्थसम्भावना अधिक ठीक है कि **आवृता कुमार्यै** = कुमारी के लिए भी यही पद्धति आवृत=स्वीकृत है। दूसरी बात यह है कि आश्वलायन के अतिरिक्त अन्य किसी गृह्यसूत्रकार (आपस्तम्ब, शांखायन, पारस्कर, मानव, गोभिल आदि) ने इस प्रकार का पुत्र-पुत्री भेद नहीं किया है। इसलिए वृत्तिकार नारायण का यह मत सर्वथा अनार्ष अथवा अवैदिक प्रतीत होता है।

2. अन्नप्राशनसंस्कार में मांसाशन सम्बन्धी सर्वाधिक सन्दिग्ध स्थल दिखाई देते हैं। पारस्कर, शांखायन, आपस्तम्ब और कौषीतकि[5] ने लिखा है कि अन्नादि की प्राप्ति के लिए अज का मांस, तेजस् के लिए तित्तिर का मांस, वेगवान् हेतु मत्स्य मांस खिलाया जाए।

इन प्रसंगों को देखकर कुछ वैदिक इतिहासकारों, कुछ वेदभाष्यकारों और दूसरे वेदविदों ने यह सैद्धान्तिक रूप से कह दिया कि **मांसाशन वेदसम्मत** है।

वस्तुतः इन स्थलों की मीमांसा आर्ष-अनार्ष का विभेद जाने बिना नहीं हो सकती। यहाँ आपका ध्यान निम्न बिन्दुओं पर अपेक्षित है–

(क) शांखायन में ही लिखा है–अमांसाऽऽशी ब्रह्मचारी।[6] एक ही ग्रन्थ में एक स्थल पर मांसनिषेध और दूसरी जगह मांसाशन–ये दो बातें क्या सम्भव हैं? फिर एक को इन तथाकथित वेदविदों (अनार्ष व्याख्याताओं) ने प्रमाण मान लिया, दूसरे को नहीं, यह कैसा न्याय?

(ख) क्या मांसाशन की अनुकूलता वेद और वैदिक ऋषियों से है? यदि नहीं तो ऐसे वचन प्रमाण नहीं हैं। अतः ऐसे प्रसंग प्रक्षेप भी हो सकते हैं।

(ग) क्या छह मास के बच्चे के लिए मांसाशनविधान में कोई युक्तता है?

(घ) गृह्यसूत्रों में पशु का अर्थ सर्वथा पशु नहीं है, बल्कि पशुगुणक कर्म[7] भी है, तो क्या अज का अर्थ अजगुणक कर्म नहीं हो सकता?

(ङ) वेद में मांस का अर्थ सर्वत्र मांस (Flesh) नहीं है। शतपथब्राह्मण में मांस का अर्थ है– मांसं वै पुरीषम् (8.6.2.14), मांसं सादनम् (8.1.4.5), अन्नम् उपशोर्मांसम् (7.5.2)। इस स्थिति में मांस अर्थ ही कैसे ग्राह्य है। वैदिक भाष्यों में मांस का अर्थ है– मांस, उत्तम अन्न, उत्तम रस, पुरीष, सादन, रसीला पदार्थ।[8]

(च) सभी गृह्यकारों ने **अन्नपते** (यजुर्वेद-11.83) आदि अन्नसम्बन्धी मन्त्रों का ही विनियोग किया है। किसी भी सूत्रकार ने एक भी मन्त्र मांससम्बन्धी नहीं दिया है। इसलिए प्रचलित मांस अर्थ ग्राह्य नहीं है। वेद में अश्व का अर्थ राष्ट्र, विष्णु का अर्थ यज्ञ भी है और आप: का अर्थ स्त्री भी है। तभी तो अप्सरा का अर्थ ठीक बैठेगा।

(छ) यदि मांस का भक्षण वैदिक होता तो किसी भी गृह्यसूत्रकार ने इसे **मांसप्राशन** संस्कार क्यों नहीं कहा, सभी ने अन्नप्राशन संस्कार कहा है।

(ज) अन्नप्राशन में यज्ञीय विधि सम्पन्न होती है और यज्ञ अध्वर है। अत: इसमें ध्वर=हिंसा की कल्पना भी समीचीन नहीं है।

(झ) गृह्यसूत्रों की शैली यह है कि उनका प्रथम वचन सिद्धान्तपक्ष है और शेष वचन इस बात के ज्ञापक हैं कि कुछ लोग ऐसा समाज में मानते हैं अथवा पहले वे कहीं-कहीं प्रचलित अवैदिक बातें करते हैं और अन्त में सिद्धान्त पक्ष। देखिए **आपस्तम्ब** की शैली-

जन्मनोऽधि षष्ठे मासि ब्राह्मणान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा दधि, मधु घृतमोदन-मिति संसृज्योत्तरैर्मन्त्रै: कुमारं प्राशयेत्।।1।। तैत्तिरेण मांसेनेत्येके।।2।। क्या इसका सीधा स्पष्ट अर्थ यह नहीं है कि दही, मधु, घृत, ओदन बच्चे को खिलाया जाए। फिर दूसरे वचन में कहा है कि कुछ लोग कहते हैं तित्तिर का मांस खिलाएं। यहाँ यह अर्थापत्ति स्वाभाविक है कि यह हमें मान्य नहीं है। अत: कुछ लोग वेद के नाम पर अवैदिक आचरण भी कर रहे थे, इससे केवल यही ज्ञापित है। जैसे आज वैदिक यज्ञों का व्याख्याता कहे कि कुछ लोग शतचण्डी या सहस्रचण्डी यज्ञ भी करते हैं-**शतचण्डी सहस्रचण्डी वा, इत्येके।** इसका तात्पर्य यही है कि यह लोक में प्रचलित है। इसे सिद्धान्त पक्ष कैसे माना जा सकता है। वेदाध्येता जानता है कि यह अवैदिक है।

इसी प्रकार कुछ आचार्य पहले पूर्वपक्ष देते हैं फिर सिद्धान्तपक्ष। यहाँ **पारस्कर** को देखिए-भारद्वाज्यमांसेन वाक्प्रसारकामस्य (1.19.7), कपिञ्जलमांसेनाऽन्नाद्यकामस्य (1.19.8) मत्स्यैर्जवनकामस्य (1.19.9) कृकषाया आयुष्कामस्य (1.19.10) आट्या ब्रह्मवर्चसकामस्य (1.19.11) सर्वै: सर्वकामस्य (1.19.12), इस पूर्वपक्ष के बाद पारस्कर ने सिद्धान्त मत दिया-**अन्नपर्यायो वा ततो ब्राह्मणभोजनम्** (1.19.13) अर्थात् सात्त्विक लोगों का जो भोजन है, वही अन्न का पर्याय है, वही प्राशन कराना चाहिए।

मेरी यह धारणा बनी है कि यह गृह्यकारों की शैली है कि वे प्रथमत: सिद्धान्तपक्ष देकर पूर्वपक्ष की सूचनामात्र देते हैं या पहले पूर्वपक्ष की सूचना देकर सिद्धान्तपक्ष देते हैं। इन सारे वचनों को सिद्धान्त मानना अनार्ष है। मान्य ओल्डनबर्ग ने यहाँ केवल शब्दार्थ कर दिया कि-He feeds the child with flesh of the bird called bhāradvājī, if he wishes (to the child) fluency of speech[10] आदि। इस प्रकार वेदार्थ की सम्यक् संगति आर्ष दृष्टि से ही संभव है। शब्दार्थमात्र की विद्वत्ता से वेद रहस्य का उद्घाटन सम्भव

नहीं है। वेद के तात्पर्य के साथ इन प्रसंगों की संगति लगाते तो इतना अनर्थ नहीं होता। सुश्रुत कहते हैं कि हल्का और हितकारी **अन्न** दिया जाए–**षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च** (शारीर स्थान–10.49)।

(ख) पुंसवन–

इस संस्कार पर मुख्य आक्षेप यह है कि यह संस्कार पुत्रप्राप्ति के लिए है, पुत्री के लिए नहीं। इस आक्षेप का कारण अवैदिक अथवा अनार्ष चिन्तन ही है। यदि सचमुच यह संस्कार पुत्र के लिए ही है तो इस संस्कार का कोई औचित्य नहीं, क्योंकि संस्कार से गर्भस्थ लिंग का परिवर्तन मानना सर्वथा अव्यावहारिक है। यहाँ निम्न बिन्दु ध्यातव्य हैं–

1. आपस्तम्ब, पारस्कर, आश्वलायन, गोभिल और शांखायन ने कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया है कि यह संस्कार पुत्रप्राप्ति के लिए है।
2. यह संस्कार द्वितीय, तृतीय या आठवें मास में किया जाता है–पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा[11], तृतीये मासि पुंसवनम्[12], अष्टमे गर्भमासे जयप्रभृतिभिर्हुत्वा....[13] यदि यह पुत्रप्राप्ति के लिए होता तो आठवें मास में इस संस्कार का क्या औचित्य था, क्योंकि आठवें मास तक गर्भस्थ शिशु का लिङ्गनिर्धारण हो चुका है। इसलिए यह संस्कार पुत्रार्थ नहीं है।
3. पुत्र की कामना गृह्यसूत्रों की नहीं, बल्कि टीकाकारों की देन है। आश्वलायन का पाठ है–उपनिषदि गर्भलम्भनं पुंसवनमनवलोभनं च।[14] इसके प्रसिद्ध टीकाकार नारायण ने अपनी वृत्ति में 'पुंसवन' का यह निर्वचन कर दिया कि पुमान् लब्धो जायते येन तत्पुंसवनम्।[15] यहाँ पुत्रलब्धि कैसे अर्थ हो गया, यह विचारणीय है, क्योंकि 'अवन' का प्रसिद्धार्थ रक्षण है, उपलब्धि नहीं है। इस समस्या को आपस्तम्ब के टीकाकार हरदत्त मिश्र और सुदर्शनाचार्य ने और बढ़ा दिया। आपस्तम्ब की उक्ति है–पुंसुवनं व्यक्ते गर्भे तिष्येण।[16] हरदत्त मिश्र ने यह निर्वचन कर दिया कि–पुमान येन सूयते तत्पुंसुवनं नाम कर्म।[17] सुदर्शनाचार्य ने भी समर्थन कर दिया कि–येन कर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुमांसमेव सूते तत्पुंसुवनम्।[18] आपस्तम्ब ने 'पुंसुवनम्' शब्द का प्रयोग किया है। अतः समस्या यह थी कि 'सुवन' शब्द को व्याकरण से कैसे साधा जाए। अब इसका समाधान भी हरदत्त मिश्र और सुदर्शन ने कल्पित कर लिया कि उवङादेशश्छान्दसः इसी के आधार पर हिन्दी व्याख्याकार उमेशचन्द्र पाण्डेय ने मूल सूत्र का अर्थ कर दिया कि–(पुत्र-प्राप्ति के लिए) पुंसवन संस्कार उस समय किया जाता है, जब गर्भ स्पष्ट हो गया हो।[19] जबकि सूत्र में पुत्रप्राप्ति पठित ही नहीं है। पारस्कर में कहीं भी नहीं लिखा कि यह संस्कार पुत्र की प्राप्ति के लिए है, पर ओल्डनबर्ग ने अथ पुंसवनम् (1.14.1) सूत्र का स्वयं ही यह अर्थ न जाने कहाँ से कल्पित कर लिया कि–Now the Pumsavana (i.e. the ceremony to secure the birth of a mail child.[20]

4. पुंसवन का अर्थ 'पुत्र' ग्राह्य नहीं इसमें वाग्व्यवहार भी प्रमाण हैं। पुंल्लिङ्गी शब्द सामान्यार्थ (स्त्री-पुरुष) के वाचक हैं, जबकि स्त्रीलिङ्गी शब्द केवल स्त्री-अर्थ के। जैसे 'सब अध्यापक यहाँ एकत्र होवें' इस पुल्लिङ्गी अध्यापक शब्द से स्त्री-पुरुष उभयविध अध्यापक ग्राह्य है जबकि 'यहाँ अध्यापिकाएँ एकत्र हों, वाक्य द्वारा स्त्री अध्यापक ही अभिप्रेत हैं। पितृतर्पण' का अर्थ माता-पिता दोनों हैं, जबकि मातृतर्पण में पिता अर्थ गृहीत नहीं है। इसी प्रकार पुंसवन में केवल सन्तान अर्थ ही ग्राह्य है।

5. आपस्तम्ब में पुंसुवन* पाठ है जिसकी निरुक्ति हरदत्त मिश्र और सुदर्शनाचार्य ने 'पुमान् येन सूयते तत्पुंसवनम्' और 'येन कर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुंमासमेव सूते तत्पुंसवनम्' की है, किन्तु स्वयं ग्रन्थकार ने पुंसुवन की यह निरुक्ति आगे सूत्र में की है–क्षिप्रं सुवनम् (6.13)। इसका अर्थ है जिससे गर्भिणी सन्तान को विना अधिक पीडा के शीघ्र जनती है–उसे कहते हैं–क्षिप्रंसुवनम् और यही परिवर्तित होकर हो गया–पुंसुवनम्। इससे पूर्ववर्ती सूत्र पुमांसं जनयति (6.12) की टीका में हरदत्त मिश्र और सुदर्शनचार्य ने यह कहा कि–यह केवल अर्थवाद है।

6. दयानन्द सरस्वती ने पुंसवन का यह अर्थ किया है–पुंसवन संस्कार का समय गर्भस्थिति ज्ञान हुए समय से दूसरे या तीसरे महीने में है, उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिए जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जाएँ तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में वीर्य को नष्ट न होने देवे, भोजन, छादन, शयन जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे जिससे वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे।[21]

स्वामी जी ने ब्राह्मणवचन और अथर्ववेद (6.2.21) के प्रमाण अपनी पुष्टि में देकर लिखा है कि–इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिए।[22]

स्वामी जी के कथन का तात्पर्य यह है कि जब दूसरे तीसरे मास गर्भ का पता चल जावे तो पति अपने पौरुष (वीर्य) की रक्षा का व्रत लेवे और वह ब्रह्मचारीवत् आचरण करे स्त्रीसंसर्ग सर्वथा त्यागे, जिससे गर्भस्थ शिशु पर कामुकता और विषयविलास के संस्कार न पड़े।

(ग) मधुपर्क–

विवाह संस्कार में मधुपर्क दिया जाता है। इस प्रसंग में आश्वलायन और शांखायन के कथन चिन्त्य हैं। आश्वलायन ने कहा है कि–नामांसो मधुपर्को भवति[23] और शांखायन कहते हैं कि–नामांसोऽर्घः स्यात्[24]

यदि आर्ष पद्धति से सहमत हैं, तो सीधा सा समाधान यह है कि यह मत सर्वथा अवैदिक है। किन्तु आश्वलायन के उक्त कथन पर नारायणवृत्ति ने अपनी मुहर लगा दी,

---

* अथर्व. 6.11.1 में भी 'पुंसुवन' पाठ मिलता है। (सम्पा.)

नारायण लिखते हैं–मधुपर्काङ्गं भोजनममांसं न भवतीत्यर्थः। कुतः। मांसस्य भोजनाङ्गत्वेन लोके प्रसिद्धत्वात्। अनेनाभ्युपायेन भोजनमप्यत्र विहितं भवति। पशुकरणपक्षे तन्मांसेन भोजनम्। उत्सर्जनपक्षे मांसान्तरेण।[25]

वस्तुतः यह सिद्धान्तपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि जिस शास्त्र का अध्ययन किया जाए, उसी दृष्टि से अर्थ समझा जाए। एक ही पुरुष शब्द का अर्थ सांख्य में अन्य है और वेद में अन्य। इसलिए यहाँ टीकाकार निश्चयेन भ्रान्त हुए हैं। अन्नप्राशन के सन्दर्भ में यह बताया जा चुका है कि वेद में मांस का अर्थ रसीला, वा उत्तम अन्न भी है। अब अर्थ कीजिए कि मधुपर्क अमांस (रसहीन) नहीं होना चाहिए। हाँ, यदि मांस का अर्थ किसी पशु-पक्षी का मांस ही है, तो वेदाननुकूल होने से यह आर्षसिद्धान्त नहीं है, चाहे वह किसी का भी वचन हो।

शांखायन ने एक समस्या और पैदा कर दी। वहाँ एक विषय 'पशुकर्म'[26] दिया गया है, जिसमें मनु का नाम लेकर पशुमांस की ही बात की गई है। इस बिन्दु में छः श्लोक हैं और पहला ही श्लोक हैं–मधुपर्के च सोमे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः। यहाँ 'पशवो हिंस्याः' कहने से मांस अर्थ पर कोई सन्देह नहीं है। इस सन्दर्भ में हमारा मानना है कि यह पूरा 'पशुकर्म' विषय प्रक्षिप्त है। इसका हेतु यह है कि पूरा शांखायन गृह्यसूत्र सूत्रशैली में लिखित है। इसमें केवल दो ही विषय पशुकर्म और अतिथिकर्म श्लोकों में हैं। शांखायन की श्लोकशैली है ही नहीं, इसलिए यह प्रमत्तगीतमेव केवलम्। यह किसी मांसभक्षी द्वारा मिलावट की गई हैं। यह ध्यातव्य है कि मनु ने तो पशुहिंसा का साक्षात् निषेध किया है–वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः। शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्। (मनुस्मृति–2.177)।

मांसभक्षण का गृह्यसूत्रों में विरोध या निषेध भी दिखाई देता है। गोभिल में ब्रह्मचारी को क्या-क्या नहीं करना चाहिए इसकी सूत्रात्मक सूची दी गई है–क्रोधानृते वर्जय। मैथुनम्। उपरिशय्याम्। कौशीलवगन्धाञ्जनानि। स्नानम्। अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि। क्षुरकृत्यम्। मधुमांसे।[27]

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर 'मधुपर्क' क्या है? इसका समाधान आपस्तम्ब ने किया है–दही और मधु काँसे के बर्तन में मिलाकर मधपर्क तैयार होता है। कुछ इसमें घी का सम्मिश्रण भी मानते हैं। कुछ मधुपर्क में पाँच पदार्थ मानते हैं–दही, मधु, घी, धान और सक्तू 'दधि मध्विति संसृज्य कांस्येन वर्षीयसा पिधाय कूर्चाभ्यां परिगृह्य मधुपर्क' इति प्राह। त्रिवृतमेके घृतं च। पाङ्क्तमेके धानास्सक्तूंश्च।[28] मधुपर्क में मांस सम्भव ही नहीं है क्योंकि आश्वलायन ने जो यह कहा था–नामांसो मधुपर्को भवति (1.24-26)। वही आश्वलायन इससे पूर्व मधुपर्क का स्वरूप बता चुके हैं कि दहि और मधु या दहि और घृत ही मधुपर्क है–दधनि मध्वानीय। सर्पिर्वा मध्वलाभे।[29] अतः स्पष्ट है कि इन विरोधी वचनों में सिद्धान्त पक्ष एक ही हो सकता है।

(च) सर्पबलि/सर्पयाग–

यह विधि श्रावण में की जाती है। इसलिए इसे श्रवणाकर्म भी कहा गया है। अथात: श्रवणाकर्म। श्रावण्यां पौर्णमास्याम्।[30] मानवगृह्यसूत्र में कहा गया है कि सर्पेभ्यो बिभ्यत् श्रावण्याम्[31] अर्थात् सर्पों से डरता हुआ मनुष्य यह कर्म करे ताकि सर्प उसे डस न ले। यह बड़ा हास्यास्पद सा प्रतीत होता है, क्योंकि क्या किसी कर्मकाण्ड से सर्प डँसना छोड़ देगा? वस्तुत: यहाँ भी अभिप्रायार्थ ग्राह्य है। श्रावण मास में सर्प पर्याप्त हो जाते हैं। सर्प से तात्पर्य सर्प आदि प्राणी हैं। उनकी रक्षा करना भी गृहस्थ का कर्त्तव्य है। अकारण उन्हें नहीं मारना चाहिए। यहाँ सर्पबलि या सर्पयाग का अर्थ यज्ञ में सर्प की बलि देना नहीं है। पशुयाग का अर्थ भी पशुओं की बलि देना नहीं है। यदि पशुयाग का अर्थ पशुओं की बलि मान लिया तो पितृयाग और अतिथियाग का क्या अर्थ होगा?

यह सच है कि याग रूप कर्मकाण्डीय विधि से न भय खत्म होगा और न ही शान्ति की प्राप्ति। ये कृत्य संकल्पात्मक हैं। सर्पयाग में सभी दिशाओं में आहुति दी जाती है। इसका तात्पर्य कीट, वृश्चिक, सर्प आदि समस्त प्राणियों में स्नेह या संवेदनशील होना है। हिरण्य-केशिगृह्यसूत्र (2.26.5) ने सर्पों को बलि देने का विधान किया है। उन्हें बुलाकर बलि (भोग्य) देना क्या सम्भव है? इन विधानों का अभिप्राय प्राणिमात्र को सुरक्षा प्रदान करना है।

नृयज्ञ, में मनुष्यमात्र के कल्याण की, भूतयज्ञ में विशेषत: पक्षियों के लिए, पशुयाग में पशुओं की वृद्धि के लिए और सर्पयाग में कीट, सर्प आदि प्राणियों की सुरक्षा की भावना निहित है।

शांखायन में श्रवणाकर्म (4.15) और सर्पबलिकर्म (4.18) पृथक् पृथक् उल्लिखित हैं।

सर्पयाग में जिन मन्त्रों का विनियोग है, वहाँ सर्प का अर्थ लोक–लोकान्तर के प्राणी हैं।[32] सर्पों से भयभीत होने का अर्थ सावधान होना है। ऐसे स्थलों में सर्प का अर्थ केवल साँप ही नहीं बल्कि चंचल दुष्ट[33] प्राणी भी है।

(ङ) शूलगव

गृह्यसूत्रों में शूलगव याग भी बड़ा सन्दिग्ध विषय है। कुछ विद्वान् गाय के मांसादि अवयवों को लोहशलाका पर पकाना ही शूलगव मानते हैं। यदि वेद की आर्ष पृष्ठभूमि को समझा हो, तो ऐसा अनर्थ सम्भव नहीं है। क्योंकि वेद में पशुओं के रक्षासम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं। वे पशून् पाहि[34] जैसे मन्त्र अनर्थक हो जाएंगे। अथर्ववेद में ब्रह्मगवी सूक्त की संगति कैसे लगेगी? लोकपरम्परा में भी 'गाय' अघ्न्य पशु है। किन्तु मानवगृह्यसूत्रकार कहता है कि–रौद्र: शरदि शूलगव:[35] अर्थात् शरद् ऋतु में रुद्र देवता के लिए 'गौ' द्वारा यज्ञ करना चाहिए। पारस्कर ने भी कहा कि–औपासनमरण्यं हृत्वा वितानं साधयित्वा रौद्रं पशुमालभेत

और इसका शब्दतः अनुवाद श्री ओल्डनबर्ग ने यह कर दिया कि–Having taken the sacred domestic fire to the forest, and having performend the 'out-spreading' he should sacrifice the animal to Rudra.[36] काठकगृह्यसूत्र के व्याख्याकार देवपाल ने 'शूलगव' संज्ञा का यह कारण बता दिया कि इसमें शूल पर 'गौ' के अंग पकाए जाते हैं, इसलिए शूलगव यह अन्वर्थ संज्ञा है। नारायण ने आश्वलायन की वृत्ति में शूल का अर्थ रुद्र कर दिया अर्थात् शूल (रुद्र) के लिए 'गौ' की बलि आदि–शूलगव इति कर्मनाम। स वक्ष्यते। शूलोऽस्यास्तीति शूलः। अर्श आदिभ्योऽच्। शूलीत्यर्थः। शूलिने रुद्राय गोपशुना यागः स शूलगवः।[37] यह अनार्षत्व की पराकाष्ठा देखिए कि कैसे वैदिक गौ को लौकिक गाय पशु बना दिया और शूली का अर्थ महादेव (रुद्र) कर दिया। यदि लोकपरम्परा में ही देखें तो महादेव तो परम गोभक्त थे। नन्दिनी गाय और कामधेनु की किंवदन्तियाँ इन व्याख्याकारों (अथवा गृह्यसूत्रकारों?) ने अर्थहीन बना दीं। क्या महादेव का पूजन गाय के पके मांस से होगा? अब इसमें सन्देह न रहे इसलिए पारस्कर का यह वचन भी देखिए–वपां श्रपयित्वा स्थालीपाकमवदानानि च रुद्राय, वपामन्तरिक्षाय वसां स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोत्यग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्रायाशनये भवाय महादेवायेशानायेति च (3.8.6) ओल्डनवर्ग ने इसका अनुवाद यह किया कि–Having cooked the omentum, a mess of sacrificial food, and the portions cut off (of the victim), he sacrifices the omentum to Rudra, the fat to the Air, and the cut-off Portions together with the mess of cooked food to Agni, Rudra, Śarva, Paśupati, Ugra, Aśani, Bhava, Mahādeva, Īśāna. जगदीश चन्द्र ने भी यहाँ वपा का अर्थ चर्बी कर दिया।

यहाँ शाब्दिक अनुवाद में कोई कमी नहीं है, कमी है तो सिर्फ आर्ष और अनार्ष के अन्तर को समझने की। यदि यही 'शूलगव' है, तो फिर यह याग कैसे हुआ? यहाँ फिर तर्क से बचने के लिए कहा जाएगा कि **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।** तर्क की कसौटी पर ऐसे कर्म भला किस काम के। हाँ, यदि आर्ष-अनार्ष की दृष्टि स्पष्ट है, तो गृह्यसूत्रों का अध्येता कहेगा कि गोहिंसा किसी भी रूप में ऋषिसम्मत और वेदानुकूल नहीं है। तथाकथित आधुनिक विचारकों में आर्ष-अनार्ष की अवधारणा न होने से तदनुगामी विद्वान् तो शब्दतः अनुवाद कर देंगे, किन्तु भारतीय मनीषा के सामने यह एक गम्भीर चुनौती है। इसीलिए पारस्कर के व्याख्याकार हरिहर यहाँ वपा के अर्थ में मौन हो गए। डॉ. वेदपाल ने वपा को बीज अर्थक मानकर समाधान का प्रयास किया है।

गृह्यसूत्रकारों ने शूलगव को स्वर्गप्रदान करने वाला, पशुसम्पत्तिप्रापकः, सन्तति–सुख देने वाला, धनदायक व यश एवं आयु की वृद्धि करने वाला कहा है–शूलगवः। स्वर्ग्यः पशव्यः पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः।[38] स एष शूलगवो धन्यो लोक्यः पुण्यः, पुत्र्यः पशव्यः आयुष्यो यशस्यः।[39]

हमारा विचार है कि यहाँ न तो शूल का अर्थ शूलधारी रुद्र है और न ही गौ का

अर्थ गाय। वैदिक अध्ययन में यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक भाषा में उस शब्द का क्या अर्थ हैं। शूलगव का अर्थ यहाँ कृषिकार्य होना चाहिए। क्योंकि 'गौ' का अर्थ पृथिवी भी है। अत: शूल=हल से गौ की वपा=पृथ्वी अर्थात् खेत की जमीन को चीरना (जोतना) ही शूलगव है। यह स्वोन्नति और राष्ट्रोन्नति के लिए किया जाने वाला कृत्य है। तभी तो यह धन, यश, आयु, सन्तान, पशुओं के लिए श्रेयस्कर है। स्मरणीय है कि इस शूलगव में यजुर्वेद के आठ मन्त्रों[40] का विनियोग किया गया है, और किसी एक मन्त्र में भी हिंसा वर्णित नहीं है, बल्कि अन्नप्राप्ति, सुशासन और समृद्धि की प्रार्थना है।

अच्छा होता यदि शब्दत: अनुवाद करने वाले लोग शूली की गाय का पूजन अर्थ कर देते। याग का अर्थ समर्पण और पूजा है। इस स्थिति में शूली=रुद्र की गाय का पूजन इस अनुवाद में क्या विसंगति है। अत: गौ आदि पशुओं की समृद्धि के लिए अथवा कृषि की समृद्धि के लिए यह संकल्पात्मक विधि हैं। कौषीतकि (3.5.4) और शांखायन (3. 9.6) में गोष्ठकर्म का विधान है। इसमें गौओं के कल्याण एवं सुरक्षा की अभिलाषा की गई है और कौषीतकि (3.5.8) ने सद्य:प्रसूता गाय के दूध से यज्ञ करने का सुझाव दिया है। इन सब प्रसंगों की अवहेलना करके गोमांस को शूल से पकाना यह अर्थ कितना तर्कहीन है, विचार कीजिए।

उपसंहार–

1. संस्कृत शास्त्रों को समझने के लिए सर्वप्रथम उनकी शैली का ज्ञान आवश्यक है।
2. वेदार्थविचार करते समय कुछ सिद्धान्त वा निष्कर्ष जान लेने चाहिए। उससे शब्दार्थ की ठीक दिशा निर्धारित हो जाती है। जैसे वेद का सिद्धान्तपक्ष क्या है, वेदार्थ की निरुक्तशैली का महत्त्व क्या है, वेद में मांसाहार है या जीव–संरक्षण के सन्दर्भ। इनमें सिद्धान्त पक्ष क्या है, आदि।
3. लेखक किन शब्दों का प्राय: प्रयोग करता है? जैसे कौटिल्य अर्थशास्त्र में व्यंजनपद अनेक बार प्रयुक्त हैं। जबकि उसका अर्थ न तो वहाँ हल्-वर्ण है और न ही भक्ष्य व्यंजन।
4. गृह्यसूत्रों के कर्मकाण्ड को देखकर कभी-कभी यह वितृष्णा भी होने लगती है कि यदि इन्हें सर्वांशत: स्वीकार कर लिया जाए, जो जीवन केवल कर्मकाण्डों के आडम्बर का बोझ ही बन जाएगा। वस्तुत: ये सभी कर्मकाण्ड नहीं है, बल्कि तत्काल में व्यवहृत रीति-रिवाज भी प्रतीत होते हैं। उनमें कर्मकाण्ड विधि गौण है। इसलिए सभी कर्मकाण्डों को वैदिक कहना संगत प्रतीत नहीं होता, उनमें लोकव्यवहार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वे आज अव्यावहारिक भी हो सकते हैं।
5. कर्मकाण्डीय विधियों में कुछ ऐसी विधियाँ भी निर्दिष्ट हैं, जिनका वेद से साक्षात् सम्बन्ध मानना तर्कपूर्ण नहीं है। जैसे पति को वश में करने का कर्म (आपस्तम्ब-3.

9) प्लवकर्म (शांखायन-4.14), वृषोत्सर्ग कर्म (शांखायन-3.11), सूतिकास्नान-(आपस्तम्ब-(6.14), यात्रा, अश्वारोहण, हस्ति, पर चढ़ने की विधि (आपस्तम्ब-8. 12) आदि। वस्तुतः ऐसे विषयों का सम्बन्ध वेद की अनुकूलता या प्रतिकूलता से न होकर लोक से है।

6. वर और कन्या की विवाहयोग्यता में अर्थवाद प्रधान है। जैसे नदी नक्षत्र नाम वाली, रेफोपध नाम वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए (आपस्तम्ब-1.3.11-14)। इसी प्रकार रोमवती, रोगवती कन्या से विवाह न करने का तात्पर्य यही है कि माता-पिता को चाहिए कि अपनी कन्या का सुन्दर नाम रखें तथा उसके स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखते हुए उसे नीरोग रखें।

7. गृह्यसूत्रों की अनेक विधियाँ केवल सुझावपरक ही हैं, जैसे कि किस काल में विवाह करें? जबकि आगे आश्वलायन ने कह दिया है कि—सार्वकालमेके विवाहम् (1.4. 2) यही स्थिति उपनयन संस्कार के सम्बन्ध में भी है। यह सुझाव ही है कि अमुक अमुक उम्र में बालक का संस्कार होना चाहिए, किन्तु फिर यह भी कह दिया कि यथामंगलं वा सर्वेषाम् (पारस्कर 2.2.4)। इसी प्रकार कन्या का नाम तीन या पाँच वर्ण वाला और पुत्र का नाम दो, चार आदि समवर्ण वाला रखा जाए (पारस्कर-1. 17.2, कौषीतक-1.16.12-13, आपस्तम्ब-6.15.9-11)। नामकरण में यह केवल सुझाव ही है, क्योंकि स्वयं वैदिक ऋषियों के नामों में यहाँ विकल्प दिखाई देता है, जैसे घोषा, निवावरी, गार्गी आदि स्त्री नाम समाक्षर ही हैं और पाणिनि, वरदराज, भरत, लक्ष्मण, कणाद, वसिष्ठ, अङ्गिरा आदि नाम विषमाक्षर हैं।

8. गृह्यसूत्रों में जितने मांसाशन के सन्दर्भ दिखाई देते हैं, उससे अधिक मांस न खाने के सन्दर्भ भी विद्यमान हैं। इसलिए मांसाशन सिद्धान्त पक्ष नहीं हो सकता।

9. गृह्यसूत्रों का अध्ययन करते समय तात्पर्यार्थ पर दृष्टि केन्द्रित रहनी चाहिए। इसी का नाम आर्ष दृष्टि है। अनार्ष दृष्टि ने गृह्यसूत्रों का बड़ा अहित किया है। अकेली विद्वत्ता से गृह्यसूत्रों का अनुवाद तो हो सकता है, पर वह अनुवाद दिग्भ्रमित कर देता है। क्योंकि अनुवाद में तो शब्दों का अर्थमात्र ही निर्दिष्ट होता है। जैसे—ष्णा (स्ना), धातु से निष्पन्न स्नातक का अर्थ स्नान किया हुआ नहीं, बल्कि वेदादि का अध्ययन सम्पूर्ण करने वाला विद्यार्थी है—त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति (पारस्कर-2.5.32) किन्तु, वेदं समाप्य स्नायात् (पारस्कर-2.6.2) का अनुवाद ओल्डनवर्ग ने यह कर दिया—When he has finished the veda, he should take the bath. जब कि तात्पर्य यह था कि वेद का सम्पूर्ण अध्ययन करने पर ही स्नातक बनेगा और स्नातक होने पर ही उसे यम (अनुशासन के नियम) बताएंगे—स्नातस्य यमान् वक्ष्यामः (पारस्कर—2.7.1)। अब यहाँ यम का अर्थ योगदर्शनोक्त यम नहीं है, बल्कि Rules of conduct है। जो स्नातक नहीं है, वह इन नियमों के पालन में स्वतन्त्र है—कामादितरः (पारस्कर-2.7.2)। विद्यास्नातक बनने के लिए छः

अंगों सहित वेद पढ़ना चाहिए, अकेला कल्पमात्र नहीं। हाँ, जिसे खाली याज्ञिक (पुरोहित) ही बनना है, वह भले ही वेद न पढ़े–षडङ्गमेके। न कल्पमात्रे। कामं तु याज्ञिकस्य (पारस्कर-2.6.5-8)। यहाँ भी ओल्डनबर्ग ने यह अनुवाद कर दिया कि जो याज्ञिक है, उसके लिए स्नान आवश्यक नहीं है–But optionally by one who knows the sacrifices (the bath may be taken).

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. शांखायनगृह्यसूत्र–1.27.1 (सम्पा. सीताराम सहगल, मुंशी राम मनोहर लाल, दिल्ली, 1960)
2. पारस्करगृह्यसूत्र–1.19.1 (Trans.-H. Oldenberg, Chaukhamba Sanskrit Pratisthan, 2005)
3. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.15.12 (चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1971)
4. वही, 1.15.12
5. पारस्करगृह्यसूत्र–1.19.7-11, शांखायनगृह्यसूत्र-1.27, आपस्तम्बगृह्यसूत्र-6.16.2, कौषीतकि-गृह्यसूत्र-1.19.2-9
6. शांखायनगृह्यसूत्र-2.11.6
7. आश्वलायनगृह्यसूत्र-4.9.39 (द्र.नारायणवृत्ति), आनन्दाश्रम पुणे, 1936
8. द्र. वैदिक कोश (चन्द्रशेखर, अनिलकुमार उपाध्याय), पृ. 1066, वैदिक कोश (भगवद्-दत्त), पृ. 403
9. आपस्तम्बगृह्यसूत्र-6.16.1-2 (सम्पा. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1972)
10. पारस्करगृह्यसूत्र-1.19.7
11. वही, 1.14.2
12. शांखायनगृह्यसूत्र-1.20.1
13. मानवगृह्यसूत्र-1.16.1 (मेहरचन्द लछमनदास, नई दिल्ली, 1982), काठकगृह्यसूत्र-32. 1-8
14. आश्वलायनगृह्यसूत्र 1.13.1
15. वही (नारायणवृत्ति)।
16. आपस्तम्बगृह्यसूत्र-5.14.9
17. वही (अनाकुला टीका)।
18. वही (तात्पर्यदर्शनम्)।
19. वही (हिन्दी टीका)।
20. English translation (पारस्करगृह्यसूत्र-1.14.1)।
21. संस्कारविधि (पुंसवन)-दयानन्द सरस्वती।
22. वही।
23. आश्वलायनगृह्यसूत्र-1.24.26
24. शांखायनगृह्यसूत्र-2.15.2

25. वही।
26. वही, 2.16
27. गोभिलगृह्यसूत्र-3.1.14-21 (कलकत्ता संस्कृत सीरीज, कलकत्ता, 1936)।
28. आपस्तम्बगृह्यसूत्र-5.13.10-12
29. आश्वलायनगृह्यसूत्र-1.14.6
30. पारस्करगृह्यसूत्र-2.14.1-2
31. मानवगृह्यसूत्र-2.16.1
32. दयानन्दयजुर्वेदभाष्य-13.6
33. वही, 13.7
34. यजुर्वेद-1.1
35. मानवगृह्यसूत्र-2.5.1
36. पारस्करगृह्यसूत्र-3.8.3 (Translation by H. Oldenberg).
37. आश्वलायनगृह्यसूत्र-4.9.1 (नारायणवृत्ति)।
38. पारस्करगृह्यसूत्र-3.8.2
39. आश्वलायनगृह्यसूत्र-4.9.36
40. यजुर्वेद-16.1-8

✦✦✦

समागृभाय वसु भूरि पुष्टम्। -अथर्व. 18.2.60
यथेष्ट धन-दौलत कमा।

स्वयशसो हि भूत। -अथर्व. 18.3.19
यशस्वी बनो।

श्रेष्ठा भूयास्थ। -अथर्व. 18.4.86
श्रेष्ठ बनो।

माकीं ब्रह्मद्विषो वनः। -अथर्व. 20.22.2
ब्रह्मद्वेषियों का संग मत कर।

संगृभाय पुरू शतोभया हस्त्या वसु। -अथर्व. 20.56.4
दोनों हाथों से भर-भर कर धनों का संग्रह कर।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (19-31) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

श्री अरविन्द की दृष्टि में अवतारवाद

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

(सम्पा. वैदिक वाग् ज्योतिः)

श्रीमद्भगवद्गीता में निम्नलिखित दो श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध हैं :–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ 7/7–8

अर्थात्, हे भारत! जब–जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब–तब ही मैं अपनी माया से अपने रूप को रचता हूँ[1] और साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिये, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिये और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये मैं युग–युग में प्रकट हुआ करता हूँ।'

प्रायः सभी व्याख्याकार उक्त श्लोकों का अर्थ अवतारवाद लेते हैं[2], इसलिए गीता के इस प्रकरण में श्री अरविन्द का 'अवतार' के सम्बन्ध में क्या अभिप्राय है–यह समझ लेना आवश्यक है। श्री अरविन्द 'अवतार' – शब्द का प्रयोग कुछ विशेष अर्थों में प्रयुक्त करते हैं, अत एव हम उनके 'अवतारवाद' पर प्रकाश डाल रहे हैं।

अवतार विषयक श्री अरविन्द का सिद्धान्त उनकी सम्पूर्ण विचारधारा का एक आवश्यक अङ्ग है। जब तक हम उनकी सम्पूर्ण विचारधारा को न समझें तब तक उनके अवतार–सम्बन्धी विचार को समझना भी कठिन है। विद्वानों की दृष्टि में[3] श्री अरवन्दि की विचारधारा को समझने के लिए उनके निम्न विचारों को समझना आवश्यक है–

(1) ब्रह्म का रूप;

(2) सृष्टि में ब्रह्म की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया;

(3) अवतरण तथा आरोहण;

(4) आरोहण का रूप–शरीर, प्राण, मन तथा अतिमानस की अभिव्यक्ति;

(5) अतिमानस तथा अधिमानस में सम्बन्ध;

(6) अतिमानस का अवतरण;

(7) अवतार;

1. ब्रह्म का रूप

श्री अरविन्द का कहना है कि जगत् में 'सत्ता' (Existence) एक ही है, उसी 'सत्ता' का नाम उपनिषदों में, गीता में, भारतीय साहित्य में सब जब जगह 'ब्रह्म' कहा गया है। यह सत्ता अपने शुद्ध रूप में सच्चिदानन्द है। इस सत्ता के-'ब्रह्म' के दो पहलू हैं। उसका एक पहलू निर्गुण है। निर्गुण का अर्थ है-निर्वैयक्तिक, अनादि, अजन्मा, अव्यक्त, एकत्व, नेति-नेति रूप। उसका दूसरा पहलू सगुण है। सगुण का अर्थ है-व्यक्तित्व, विकास, बहुत्व, व्यक्त, नाना रूप। ब्रह्म का सगुण पहलू ही व्यक्तित्व धारण करता है, यही सृष्टि का विकसित रूप है, व्यक्त रूप है। ब्रह्म के निर्गुण रूप को 'स्थिर' (Static) कह सकते हैं; सगुण रूप को 'क्रियाशील' (Dynamic) कह सकते हैं।

ब्रह्म के निर्गुण रूप का यह अर्थ नहीं है कि उसका किसी रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता। निर्गुण अवस्था में भी ब्रह्म के अस्तित्व का, उसकी सत्ता का रूप सत्-चित्-आनन्द है। यह सच्चिदानन्द रूप निर्गुण ब्रह्म अपनी 'क्रियाशील अवस्था' (Dynamism) में सृष्टि की उत्पत्ति करता है। शुद्ध सच्चिदानन्द तो ब्रह्म का अव्यक्त रूप है, परन्तु वह अव्यक्त से व्यक्त होते-होते अनन्त काल की अवधि में जड़ प्रकृति के रूप में प्रकट हो जाता है। सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म तथा जड़ प्रकृति-ये दोनों इस जगत् की एक ही सत्ता के दो छोर हैं। 'ब्रह्म' से जगत् का आदि समझें, तो 'जड़ प्रकृति' में उसका अन्त समझें। 'प्रकृति' ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं, अव्यक्त ब्रह्म का ही यह व्यक्त रूप है, ब्रह्म का ही अव्यक्त से व्यक्त की प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते, प्रकट हो जाने वाला शरीर है।

उक्त विवरण से स्पष्ट हो जायेगा कि शंकराचार्य तथा अरविन्द दोनों अद्वैतवादी तो हैं, दोनों ही एक ही सत्ता को मानते हैं, दूसरी सत्ता को नहीं मानते, परन्तु फिर भी इन दोनों के अद्वैत एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन दोनों में समानता क्या है और भेद क्या है? इन दोनों में समानता यह है कि ये दोनों अन्तिम तथा यथार्थ सत्ता केवल एक मानते हैं-**'एकमेवाद्वितीयम्';** इन दोनों में भेद यह है कि शंकराचार्य तो प्रकृति को माया मानते हैं, मिथ्या मानते हैं, स्वप्नवत् मानते हैं, रज्जु में सर्प की भ्रान्तिवत् मानते हैं, परन्तु श्री अरविन्द प्रकृति को भ्रान्ति या स्वप्न नहीं मानते। उनका कहना है कि प्रकृति 'ब्रह्म' का ही व्यक्त रूप है, ब्रह्म का ही जड़ में प्रकट रूप है, परन्तु है यह यथार्थ; अयथार्थ, मिथ्या या भ्रान्ति नहीं है।[4] शंकराचार्य प्रकृति को अयथार्थ, मिथ्या तथा भ्रान्ति मानते हैं।

2. सृष्टि में ब्रह्म की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया – अवतरण तथा आरोहण

सच्चिदानन्दरूपात्मक ब्रह्म-सत्ता के अव्यक्त से व्यक्त होने के सम्बन्ध में श्री अरविन्द का विचार यह है कि पहले यह अभिव्यक्ति चेतन से जड़ की तरफ़ चलती है, इस प्रक्रिया में सत्-चित्-आनन्द-ब्रह्म के ये रूप मन्द-मन्द होते जाते हैं, यहाँ तक कि जड़ प्रकृति में आकर ये सर्वथा तिरोहित हो जाते हैं, मौजूद तो रहते हैं, परन्तु अप्रकट हो जाते

हैं, अव्यक्त हो जाते हैं। ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द—ये शुद्ध रूप तो अव्यक्त हो जाते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों ये मन्द पड़ते हैं, अव्यक्त होते हैं, त्यों-त्यों प्रकृति के रूप में उसका स्थूल रूप, नानात्व रूप व्यक्त होता है, प्रकट होता है। अव्यक्त से व्यक्त होने की इस प्रक्रिया को चेतन-ब्रह्म से जड़-प्रकृति की ओर गति को उन्होंने 'अवतरण' (Involution) का नाम दिया है।

जब ब्रह्म का अव्यक्त से व्यक्त के रूप में अवतरण जड़ प्रकृति की अवस्था तक पहुँच जाता है तब वह जड़ रूप में ही नहीं पड़ा रहता, परन्तु वहाँ से 'ब्रह्म' की 'क्रियाशीलता' (Dynamism) के कारण वह फिर उलट पड़ता है और जड़ प्रकृति के रूप को त्यागता है। जब वह गतिशील है, जड़ प्रकृति में जाकर आगे को गति रुक जाती है, तब वही गति फिर पीछे को, जहाँ से चली थी उधर ही को लौट पड़ती है। इस प्रक्रिया को श्री अरविन्द ने 'आरोहण' (Evolution) का नाम दिया है, जहाँ से गिरी थी उधर को ही आरोहण करने लगी, उसका सच्चिदानन्द रूप जो मन्द-मन्द पड़ता गया था उसी को पाने के लिए चल पड़ी। यह अवतरण तथा आरोहण ब्रह्म के क्रियाशील रूप के ही परिणाम हैं।

जब क्रियाशीलता चेतन ब्रह्म से जड़ प्रकृति की तरफ होती है तब अधोमुखी गति या अवतरण (Involution, Descent) होता है; जब क्रियाशीलता जड़ प्रकृति से सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म की तरफ चल पड़ती है; तब ऊर्ध्वमुखी गति या आरोहण (Evolution, Ascent) होता है। अधोमुखी गति या अवतरण तथा ऊर्ध्वमुखी गति या आरोहण में आधारभूत भेद क्या है? अधोमुखी गति में ज्यों-ज्यों ब्रह्म पर अज्ञान का पर्दा घनीभूत होता जाता है त्यों-त्यों वह जड़ प्रकृति की तरफ गति करता जाता है, उसका सच्चिदानन्द रूप अव्यक्त, अप्रकट होता जाता है; ऊर्ध्वमुखी गति में ज्यों-ज्यों ब्रह्म पर से अज्ञान का पर्दा हटता जाता है त्यों-त्यों उसका सच्चिदानन्द रूप व्यक्त, प्रकट होता जाता है।

यहाँ एक बात को समझ लेना आवश्यक है। ब्रह्म जब सृष्टिरूप में आया तब अव्यक्त से व्यक्त हुआ था, जो नहीं दीखता था वह दीखने लगा, एकत्व से नानात्व प्रकट हुआ—इन्हीं अर्थों में हम कहते हैं कि अवतरण की प्रक्रिया अव्यक्त से व्यक्त होने की तरफ होती है। परन्तु जब चेतन ब्रह्म का जड़ प्रकृति के रूप में उपक्रम हो रहा होता है तब उसके सत्-चित्-आनन्द रूप अव्यक्त से व्यक्त नहीं हो रहे होते, वे रूप मन्द-मन्द पड़ रहे होते हैं, तिरोहित हो रहे होते हैं, मोटे अर्थों में अव्यक्त हो रहे होते हैं। यही कारण है कि जब अवतरण के आद आरोहण की प्रक्रिया चलती है तब जड़ प्रकृति का व्यक्त या स्थूल, आँखों से दीखने वाला रूप तो अव्यक्त होने लगता है, परन्तु उसमें तिरोहित ब्रह्म का सत्-चित्-आनन्दरूप जो प्रकृति में आकर अव्यक्त हो गया था, वह व्यक्त होने लगता है। जब हम कहते हैं कि 'अवतरण' (Involution or Descent) की प्रक्रिया अव्यक्त से व्यक्त की ओर जाती है तब हमारा यह अर्थ होता है कि ब्रह्म का एकत्व रूप नानात्व की तरफ जाता

है; जब हम कहते हैं कि 'आरोहण' (Evolution or Ascent) की प्रक्रिया भी अव्यक्त से व्यक्त की तरफ जाती है तब हमारा यह अर्थ होता है कि ब्रह्म के प्रकृति में तिरोहित सत्-चित्-आनन्दरूप जो प्रकृति में अव्यक्त हो गये थे, वे प्रकट, व्यक्त होने लगते हैं।

जब कभी सृष्टि प्रारम्भ हुई थी तब अधोमुखी गति या अवतरण हुआ था, अब अधोमुखी गति या अवतरण नहीं हो रहा, अब ऊर्ध्वमुखी गति या आरोहण हो रहा है। यह 'आरोहण' (Evolution) कैसे हो रहा है?

4. आरोहण का रूप–शरीर, प्राण, मन तथा अतिमानस की अभिव्यक्ति

हम कह चुके हैं कि कोई समय था जब सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म अपनी 'क्रियाशीलता' (Dynamism) के कारण अवतरण करता-करता जड़ प्रकृति का रूप धारण कर चुका था। अपने स्वाभाविक, क्रियाशील गुण के कारण ही यहाँ से यह पलटा और ब्रह्म की क्रियाशीलता जड़ प्रकृति के अन्तिम छोर पर जाकर, वहाँ तक पहुँच कर, क्योंकि वह आगे नहीं जा सकती थी, परन्तु थी क्रियाशील, अतः वह उलट पड़ी; जैसे चेतन से जड़ बना था, वैसे जड़ से चेतन बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। आधुनिक विज्ञान भी तो यही कहता है। विज्ञान का कहना है कि जड़ से एकदम चेतन प्रकट हुआ, चेतन अर्थात् जीवधारी प्राणी। विकासवादी कहते हैं कि पहले जल में जीवन प्रकट हुआ, फिर जल-थल दोनों जगह गति करने वाले प्राणी, फिर पृथिवी पर चलने वाले-इस प्रकार पशु हुए, फिर वानर हुए, फिर मनन करने वाला मनुष्य हुआ। विकास की इसी प्रक्रिया को पुराणों में मत्स्यावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार आदि का रूप दिया गया है। तो विकास की, श्री अरविन्द की परिभाषा में 'आरोहण' (Evolution) की प्रक्रिया का क्या रूप है?

'आरोहण' की प्रक्रिया में पहले-पहल प्रकृति जड़ता को छोड़कर जीवन के रूप में प्रकट होती है। ब्रह्म जब जड़ प्रकृति के रूप को छोड़कर ऊर्ध्व-गति करने लगता है, तब उसकी पहली मंज़िल जीवन है, जीवन का स्थूल रूप वृद्धि, उपचय-अपचय है। जड़ जगत् में, ईंट-पत्थर में वृद्धि, उपचय-अपचय नहीं है, जीवन में वृद्धि है, उपचय-अपचय है। वृद्धि, उपचय-अपचय जिस वस्तु में होता है, उसे 'शरीर' कहते हैं। यह बात वृक्ष-वनस्पति में पायी जाती है इसलिए जड़ प्रकृति से आरोहण की प्रक्रिया में से गुज़रते हुए वानस्पतिक-शरीर का निर्माण पहली मंज़िल है, परन्तु वनस्पति तो एक जगह स्थिर रहती है, चलती-फिरती नहीं, आरोहण की प्रक्रिया यहीं अटकी न रह कर आगे बढ़ती है, विकास करती है, तब आरोहण में दूसरी मंज़िल आती है जिसमें 'प्राण' प्रकट होता है। यह प्राण-तत्व पशु-पक्षी में, जीवधारियों में पाया जाता है, परन्तु आरोहण की प्रक्रिया यहाँ पर भी अटकी नहीं रहती, आगे बढ़ती है और इस दूसरी मंज़िल के बाद तीसरी मंज़िल आती है और मानव-जीवन, वह जीवन जिसमें शरीर-तत्व तथा प्राण-तत्व के अलावा एक तीसरा तत्व जो अबतक प्रकृति के पर्दे से ढका हुआ था प्रकट हो जाता है। यह तीसरा तत्व है-'मनस्तत्व', मनुष्य का मानस।

श्री अरविन्द का कहना है कि आज तक सृष्टि विकास की प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते 'मनस्तत्व' तक पहुँची है, परन्तु जैसे जड़ प्रकृति से चेतन 'शरीर-तत्व' का विकास हुआ, जैसे शरीर-तत्व के बाद 'प्राण-तत्व' का विकास हुआ, जैसे प्राण-तत्व के बाद 'मनस्तत्व' का विकास हुआ, वैसे यह विकास यहीं रुक जाने वाला नहीं है। यह विकास आगे होगा और इस विकास में जो अगला तत्व प्रकट होगा उस तत्व का नाम होगा 'अतिमानस' (Supramental) तत्व। इस 'अतिमानस' का किसी व्यक्ति में उतर आना ही अवतरण है, अवतार है; यही 'दिव्य-जन्म' (Divine birth) है। प्रश्न यह है कि यह 'अतिमानस-तत्व' क्या है?

जड़-प्रकृति से ऊपर को 'आरोहण' (Evolution) होते-होते जब 'मनुष्य' की अवस्था आ जाती है, वह अवस्था जिसमें 'मनस्तत्व' (Mind) प्रकट हो जाता है, तब यह 'मनस्तत्व' पाँच स्तरों में से गुज़रता है। पहला स्तर है–'साधारण मानसिक-शक्ति' (Intelligence)। इस स्तर के लोग मन के साधारण-स्तर पर रहते हैं, ऊँची उड़ान नहीं ले सकते। इससे आगे वे लोग आते हैं जो उच्चतर मानसिक-स्तर के हैं, इन्हें 'उच्चतर-मन' (Higher mind) का कहा जा सकता है। ऐसे लोग भी हैं जो युक्ति--प्रतियुक्ति से किसी परिणाम पर नहीं पहुँचते, अपितु जिन्हें एकदम ठीक-ठीक सत्य सूझ जाता है। उनमें मनस्तत्व का स्तर और ऊँचा होता है जिसे हम 'अन्तःप्रज्ञा' या 'सम्बोधि' (Intuition) कह सकते हैं। मन की चौथी अवस्था ऐसी है जो 'आलोकित-मन' (Illumined mind) है, उसके सामने सब प्रकाश-ही-प्रकाश होता है। इन चारों के आगे श्री अरविन्द ने मनस्तत्व की एक पाँचवीं अवस्था का वर्णन किया है जिसे उन्होंने 'अधिमानस' (Overmind) का नाम दिया है। 'साधारण मानसिक-शक्ति' (Intelligence) को छोड़कर मनस्तत्व के बाकी चारों स्तरों को श्री अरविन्द ने 'अध्यात्मभावापन्न मन' (Spiritual mind) का नाम दिया है।

श्री अरविन्द का कहना है कि मन के इन स्तरों के परे जो-कुछ भी तत्व है वह 'अतिमानस' (Supramental) है और जैसे 'आरोहण' (Evolution) में हम 'मानस-तत्व' तक पहुँचे हैं, जिसके पाँच स्तरों के नाम हमने अभी दिये, वैसे ऊर्ध्वमुखी विकास करते-करते 'मानस-तत्व' के बाद हम इससे परे वर्तमान 'अतिमानस-तत्व' तक पहुँचेंगे। 'अतिमानस'–अर्थात् 'मानस-तत्व' से परे, उसके आगे का तत्व।

विद्वानों ने इस सारे प्रकरण में 'तत्व' शब्द का प्रयोग किया है। 'तत्व'-शब्द से अभिप्राय 'चेतना' (Consciousness) से है।[5] 'मन' का रूप भी तो 'चेतना' ही है। ऊपर दिये गये मन के पाँचों स्तर चेतना के स्तर हैं। 'चेतना' ही ऊपर से अवतरण करती-करती जड़ रूप प्रकृति में अवतरित होती है, 'चेतना' ही जड़ रूप प्रकृति के अन्तिम छोर पर जाकर वहाँ से ऊपर की ओर पलटती हुई अपने को शरीर, प्राण, मानस, अतिमानस के रूप में प्रकट करती है।

यह सब-कुछ समझ लेने के आद यह समझना आवश्यक है कि 'मानस' तथा 'अतिमानस' का एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है?

5. अतिमानस तथा अधिमानस में सम्बन्ध

मानसिक-चेतना के जिन पाँच स्तरों का हमने उल्लेख किया उन सबमें 'अधिमानस-स्तर' (Overmind) 'अतिमानस-स्तर' (Supramental) के सब से निकट का स्तर है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि चेतना की जिन पाँच शृंखलाओं का, स्तरों का हमने उल्लेख किया, उन सब में 'अधिमानस' (Overmind) सब से ऊँचा है। तो फिर 'अतिमानस' तथा 'अधिमानस' में परस्पर क्या सम्बन्ध है?

'अतिमानस' (Supramental) तो सृष्टि की सत्य चेतना है, इसमें अज्ञान का लेश-मात्र भी नहीं है, ज्ञान उसका निज स्वभाव है। 'अतिमानस' अज्ञान में से निकल कर ज्ञान में प्रवेश नहीं करता, असत्य से निकल कर सत्य की तरफ नहीं जाता, वह तो ज्ञानरूप है, सत्यरूप है, प्रकाश रूप है। वह सत्य से महत्तर सत्य में प्रवेश करता है, ज्ञान से प्रगाढ़ ज्ञान की तरफ बढ़ता है, प्रकाश से ज्योतियों की ज्योति की तरफ पग बढ़ाता है, विस्तृतता से असीमता, अनन्तता की तरफ जाता है। यह ब्रह्म का ही सच्चिदानन्द रूप है, परन्तु ब्रह्म का निर्गुण रूप नहीं, सगुण रूप, वह रूप जिसमें क्रियाशील ब्रह्म अभी अपने ही रूप में मौजूद है, एक-रस रूप में, ज्ञान-सत्य-प्रकाश रूप में, जिसमें वह प्रकृति के बहु-रूप में, नाना-रूप में, अज्ञान-असत्य-अन्धकार रूप में नहीं उतरा। ज्यों ही उसका बहु-रूप में, नाना-रूप में, अज्ञान रूप में, असत्य रूप में, अन्धकार रूप में पहला कदम पड़ा कि उस पहले रूप को ही श्री अरविन्द ने 'अधिमानस' (Overmind) का नाम दिया है। 'अधिमानस' तथा 'अतिमानस' बिल्कुल एक-दूसरे के पास हैं, 'अतिमानस' से उतरते 'अधिमानस' में है, 'अधिमानस' से चढ़ते 'अतिमानस' में हैं, परन्तु 'अतिमानस' में ब्रह्म का शुद्ध रूप है, 'अधिमानस' में ब्रह्म के प्रकृतिमय रूप की पहली झलक उठ खड़ी होती है।

6. अतिमानस का अवतरण

सृष्टि के ऊर्ध्वमुखी विकास में जैसे सबसे पहले 'शरीर-तत्व' (Physical being) व्यक्त हुआ, उसके बाद 'प्राण-तत्व' (Vital being) व्यक्त हुआ, उसके बाद 'मनस्-तत्व' (Mental being) व्यक्त हुआ, वैसे इस ऊर्ध्वमुखी विकास में, इस 'आरोहण' (Evolution) की प्रक्रिया में 'अतिमानस' (Supramental) व्यक्त होगा।

श्री अरविन्द का कहना है कि शरीर, प्राण, मन, अतिमन—ये सब सृष्टि के तत्व हैं, चेतना के भिन्न-भिन्न स्तर हैं, परन्तु 'अवतरण' (Involution) करते समय ये जड़-प्रकृति का रूप धारण करते हुए अव्यक्त, अप्रकट रूप में मौजूद रहते हैं और ये ही तत्व, चेतना के ये ही स्तर, 'आरोहण' (Evolution) के समय, जड़-प्रकृति से सच्चिदानन्द स्वरूप

ब्रह्म के रूप में जाते हुए, व्यक्त होने लगते हैं, प्रकट होने लगते हैं। अब तक शरीर, प्राण, मन–ये तीन तत्व, चेतना के ये तीन स्तर व्यक्त, प्रकट हो चुके हैं, अब 'अतिमानस-तत्व' के अथवा यों कह सकते हैं कि चेतना के अतिमानस-स्तर के प्रकट होने का समय है।

जब विश्व में अतिमानस-चेतना प्रकट होगी तब क्या होगा? श्री अरविन्द का कहना है कि तब हमारा यह शरीर, यह मन सर्वथा बदल जायेगा, रूपान्तरित हो जायेगा। जैसे प्राण-तत्व के आविर्भाव से प्राणी का शरीर कुछ-का-कुछ बन गया, जैसे मनस्तत्व के आविर्भाव से मनुष्य का शरीर पशु-पक्षी से भिन्न होकर रूपान्तरित हो गया, वैसे अतिमानस के आविर्भाव से यह शरीर ऐसा नहीं रहेगा, यह शरीर 'दिव्य' हो जाएगा, मन भी 'दिव्य' हो जाएगा। आज हम जैसे हाथ-पाँव से काम लेते हैं, शरीर को आधि-व्याधि सताती है, शरीर की आयु सीमित है, वैसे ये सीमाएँ जाती रहेंगी। हम जैसे सुख-दुःख से घिरे रहते हैं, कभी हँसते कभी रोते हैं, राग-द्वेष-भय से विक्षिप्त रहते हैं, अतिमानस द्वारा हमारे रूपान्तरण के बाद यह सब-कुछ नहीं रहेगा, मनुष्य आनन्दमय हो जायेगा। जैसे इस पृथिवी पर ही चेतना ने अपने को जड़ से ऊपर उठकर वनस्पति-वृक्षों में प्रकट किया, जैसे इस पृथिवी पर ही चेतना ने अपने को पशु-पक्षियों में प्राण-रूप में प्रकट किया और उस योग्य उपकरणों का, साधनों का निर्माण किया, जैसे इस पृथिवी पर ही चेतना ने अपने को मनुष्यों में मानस रूप में प्रकट किया और मन के योग्य साधनों का निर्माण किया, वैसे इसी पृथिवी पर अतिमानस अपने को प्रकट करेगा और अतिमानस के प्रकट होते ही मानव-समाज के उपकरण भी उसी के अनुरूप हो जायेंगे। यह मनुष्य का इस पृथिवी पर 'दिव्य-जन्म' होगा और उसके कर्म 'दिव्य-कर्म' होंगे। उपनिषद् में शरीर, प्राण, मन, अतिमन के विकास की इस प्रक्रिया को अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोश कहा है।

प्रश्न यह है कि अतिमानस का अवतरण तथा मानव का रूपान्तरण कैसे होगा? इसी का उत्तर श्री अरविन्द ने 'अवतारवाद' से दिया है।

7. श्रीअरविन्द का अवतार का विचार

श्री अरविन्द का कहना है कि अतिमानस के मानव में अवतरण तथा मानव के रूपान्तरण के दो मार्ग हैं। एक है–स्वाभाविक; दूसर है–प्रयत्न-साध्य। वैसे तो सृष्टि का विकास अतिमानस के मानव में अवतरण तथा अवतरण द्वारा उसके रूपान्तरण की तरफ ही है। पहले वृक्ष-वनस्पति के रूप में 'शरीर' प्रकट हुआ, फिर पशु-पक्षी आदि के रूप में 'प्राण' प्रकट हुआ, फिर मनुष्य के रूप में 'मन' प्रकट हुआ, सृष्टि विकास करती-करती आगे जा रही है, 'अवतरण' अब समाप्त हो चुका है, अब 'आरोहण' की प्रक्रिया चल रही है, यह ऐसे ही चलती जाएगी और स्वाभाविक विकास होते-होते अनन्त काल में 'अतिमानस' स्वयं प्रकट होगा, ऊर्ध्वमुखी विकास का यह अवश्यंभावी परिणाम होगा, परन्तु श्री अरविन्द का कहना है कि 'अतिमानस' को प्रकट करने का, उसे नीचे उतारने का एक दूसरा भी मार्ग है और वह है ब्रह्म का स्वयं इस प्रक्रिया को शीघ्र लाने का प्रयत्न करना,

इस विकास में सहायक होना। जब 'अतिमानस' के प्रकट होने का कार्यक्रम स्वयं चल रहा होता है तब यह स्वाभाविक मार्ग से प्रकट हो रहा होता है, जब 'अतिमानस' को प्रकट करने में ब्रह्म स्वयं प्रयत्नशील, क्रियाशील हो जाता है, तब यह प्रयत्नसाध्य मार्ग से प्रकट हो रहा होता है। प्रयत्नसाध्य मार्ग से 'अतिमानस' का सृष्टि में प्रकट होना ही श्री अरविन्द का अवतारवाद है।

'अतिमानस' का प्रयत्नपूर्वक अवतरण किसी माध्यम से होता है। इसके अवतरण का जो भी माध्यम होगा, श्री अरविन्द की परिभाषा में वही अवतार होगा, परन्तु श्री अरविन्द के कथनानुसार 'अतिमानस' का अवतरण, नीचे को आकर प्रकट होना तभी होता है जब नीचे से मानव के ऊपर को उठने का समय होता है। जब कूएँ में डूब रहा व्यक्ति कूएँ से बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहा होता है तब कोई आकर उस डूबते को बाहर निकालने के लिए कूएँ में रस्सी लटकाता है। नीचे उतरना बाहर निकलने के लिए है, अवतरण आरोहण के लिए है, अधोमुखी गति (Descent) ऊर्ध्वमुखी गति (Ascent) के लिए है। श्री अरविन्द के अवतारवाद में 'अतिमानस' नीचे उतरता है, 'मानस' को ऊपर खेंचने के लिए, झटका देकर ऊपर ले जाने के लिए। इस प्रकार श्री अरविन्द के कथनानुसार ऊपर की चेतना का नीचे की चेतना को ऊपर खींच लाने के लिए व्यक्त होना ही अवतारवाद है। अगर नीचे की चेतना को ऊपर खींच कर न लाया जा सके तो अवतार-शब्द का प्रयोग करना निरर्थक है, दूसरे शब्दों में तब अवतार होता ही नहीं। तभी गीता ने कहा है—"जब धर्म के प्रति ग्लानि होने लगती है, अधर्म सिर ऊँचा करने लगता है, जब साधु पुरुषों के साथ दुर्व्यवहार होने लगता है, दुष्ट पुरुषों का बोलवाला होने लगता है, तब भगवान् अवतरित होते हैं ताकि धर्म का अखण्ड राज्य स्थापित हो सके।" **श्री अरविन्द की दृष्टि से अवतार क्या है? अवतार 'अतिमानस' का किसी व्यक्ति में प्रकट होना है, व्यक्त होना है, ताकि वह व्यक्ति मानव-समाज के अन्य व्यक्तियों को, सम्पूर्ण मानव-समाज को 'मानस-चेतना' से ऊपर उठाकर 'अतिमानस-चेतना' में ले जा सके।** जिस व्यक्ति में 'अतिमानस' उतर आता है उसका जीवन 'दिव्य-जीवन' (Divine life) कहलाता है, ऐसा ही व्यक्ति अवतार कहलाता है। वैसे तो 'अतिमानस' इस सृष्टि में स्वाभाविक तौर पर अपने समय में व्यक्त होगा ही, परन्तु जब प्रयत्नपूर्वक कोई आत्मा अपने भीतर 'अतिमानस' को उतार लेता है, उतार लेने के साथ इस बात से भी अभिज्ञ होता है कि उसमें 'अतिमानस' उतरा है, प्रकट हुआ है, श्री अरविन्द उसी को अवतार कहते हैं और उसका काम, सृष्टि के सब प्राणियों को 'अतिमानस-चेतना' की तरफ ले जाना—उसका यह काम 'दिव्य-कर्म' (Divine action) कहलाता है। मानव-समाज को ऊपर उठा कर अतिमानस की तरफ चलने के लिए प्रगतिशील बना देना ही 'दिव्य-कर्म' है। श्री अरविन्द के कथनानुसार धर्म की स्थापना, अधर्म के नाश, साधुओं के परित्राण और दुष्टों के नाश का यही अर्थ है। इसी को गीता में '**जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन**' कहा है।[6] इसका अर्थ है—"जो व्यक्ति मेरे 'दिव्य-जन्म' और 'दिव्य-कर्म'

को इस प्रकार जान लेता है वह शरीर को त्यागने के बाद फिर जन्म नहीं लेता, अपितु हे अर्जुन! मेरे पास चला आता है।"

अवतारवाद के सम्बन्ध में अन्य विचारकों के विचार

'अवतार' का अर्थ परमात्मा का मनुष्य रूप धारण करके धर्मोद्धार और भूमि का भार उतारने के लिये पृथिवी पर स्वयं उतर आना समझा जाता है, परन्तु पुराण साहित्य में अवतार के अग्रलिखित तीन कारण बताये गये हैं–

(1) वरदान[7]

(2) शाप[8]

(3) कर्मफलभोग[9]

इन अर्थों में कई लोगों को आपत्ति है। उनका कहना है कि अज, अव्यय, निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकते हैं। वेद में तो उसे अकाय=शरीर रहित, अस्नाविर=नस-नाड़ियों के बन्धन से रहित कहा गया है।[10] इस विचार के लोगों का कहना है कि परमात्मा तो मनुष्य का रूप धारण करके नहीं उतरता, परन्तु कोई मुक्तात्मा जब सृष्टि में धर्म के प्रति ग्लानि और अधर्म का बोलबाला देखता है तब अपनी मुक्तावस्था को छोड़कर-संसार में फिर से धर्म की स्थापना के लिए जन्म ग्रहण करता है। संसार में जन्म दो तरह के जीवों का होता है। एक तो कर्म से बद्ध जीवों का, दूसरा कर्म के बन्धन से मुक्त जीवों का। कर्म से बद्ध जीव का उदाहरण अर्जुन है, कर्म से मुक्त जीव श्रीकृष्ण है–हैं दोनों जीवात्मा। कर्म से बद्ध जीव तो कर्मों के भोग के कारण पुनर्जन्म लिया ही करते हैं; कर्म से मुक्त जीव या तो परमात्मा की प्रेरणा से या स्वेच्छा से संसार में फैल रहे अधर्म को दूर करने के लिए जन्म लेते हैं। इन दोनों में भेद यह है कि बद्ध जीवों का जन्म स्वेच्छा से नहीं होता, मुक्त जीवों का जन्म स्वेच्छा से होता है; बद्ध जीव अपने कर्मों के भोग से पुनर्जन्म लेते हैं, मुक्त जीव दूसरों के कल्याण के लिए जन्म लेते हैं। इस प्रकार मुक्त जीवों का जन्म लेना ही अवतार है। श्रीकृष्ण ऐसे ही मुक्त जीव थे जिन्होंने जन्म लिया था।

परन्तु हम इस पचड़े में नहीं पड़ते। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक देश, राष्ट्र तथा जाति में जब अत्यन्त निराशा का समय आ जाता है, चारों तरफ संकट-ही-संकट दिखायी देता है, ऐसा प्रतीत होता है कि एक और क्षण बीता कि हमारी सत्ता ही मिट जाएगी, तभी अन्धकार में प्रकाश की, निराशा में आशा की किरण फूट पड़ती है और सारा-का-सारा नक्शा ही पलट जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें कभी-कभी इतना समय लगता दीखता है कि अन्धकार से प्रकाश में आने में सदियाँ बीत जाती हैं, परन्तु मानव-समाज के इस दीर्घकालीन इतिहास में सदियाँ दिनों, सप्ताहों से अधिक नहीं हैं। अन्धकार जब घनीभूत हो जाता है तब वह प्रकाश के निकटतम होता है–यह इस सृष्टि का आधारभूत नियम है। इस नियम की व्याख्या क्या है?

आजकल के कुछ सामाजिक विचारकों का, जिनमें से एक अंग्रेज़ विचारक तोयनबी का कथन है कि संसार में विचारों की नई लहर समय-समय पर उठा करती है जो अपने समय के सब मूल्यों को बदल देती है, उनमें नयापन ला देती है। उनका कहना है कि हर नया विचार, हर नई लहर, नयी सभ्यता, नयी संस्कृति समय की आवश्यकता का, समय की ललकार का, समय की पुकार का, अपने समय की परिस्थिति का प्रत्युत्तर होती है। परिस्थिति आध्यात्मिक हो सकती है। जब हम वैयाक्तिक या सामूहिक रूप में किसी भौतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक विषम परिस्थिति से घिर जाते हैं, तब हम में या समूह में उस कठिनाई को हल करने के लिए एक असाधारण क्रिया-शक्ति या स्फुरणा उत्पन्न हो जाती है। भौतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक कठिन, विषम परिस्थिति हमें मलियामेट न कर दे, इसलिए इस विषम परिस्थिति की ललकार के प्रति हम प्रतिक्रिया करते हैं, परिस्थिति की चुनौती का प्रत्युत्तर देते हैं। यह प्रतिक्रिया, यह प्रत्युत्तर ही गीता का अवतारवाद है। तभी तो वहाँ कहा है कि जब अधर्म की ग्लानि होती है, दुष्टों का बोलबाला हो जाता है, तब विश्व में किसी ऐसी शक्ति का आविर्भाव होता है जो इस चैलेंज को स्वीकार कर उससे भिड़ जाती है और संसार में फिर से असत्य के विरुद्ध सत्य को, हिंसा के विरुद्ध अहिंसा को, अत्याचार के विरुद्ध सदाचार को प्रतिष्ठित करती है।

जब विषम परिस्थिति के साथ मानव-समाज संघर्ष करता है तब समाज में एक विशेष प्रकार की क्रिया-शक्ति फूट पड़ती है, मानो अवरुद्ध शक्ति का स्रोत उमड़ पड़ता है, इस अवरुद्ध स्रोत से जो शक्ति उभरती है वह नित-नित आने वाली कठिनाइयों को चकनाचूर कर देती है, वह शक्ति भौतिक न होकर आध्यात्मिक होती है, वह बाह्य तथा आन्तरिक सब बाधाओं के साथ टक्कर लेती है। किसी समाज के संकटकाल में इस प्रकार आध्यात्मिक-शक्ति के स्रोत का फूट पड़ना ही अवतारवाद का रहस्य है। इसे हम शक्ति का अवतरण कह सकते हैं, परन्तु यह उस प्रकार का अवतारवाद नहीं है जिसे हम परम्परा से अवतार कहते हैं। ऐसी शक्ति समाज में से ही फूटती है। जैसे शरीर के रोगी होने पर शरीर में से ही रोग को दूर करने की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, वैसे समाज के विषम परिस्थितियों का शिकार होने पर समाज में से ही अपने को स्वस्थ करने की प्रतिक्रिया स्वाभाविक तौर पर उत्पन्न होती है। यह प्रतिक्रिया समाज के जिन व्यक्तियों में साकार हो जाती है वे ही पीर, पैग़म्बर, महात्मा, अवतार कहे जाते हैं, ईश्वर की विभूति के रूप में पूजे जाते हैं।

आज सारा संसार एक 'आध्यात्मिक संकट' (Crisis of the spirit) में से गुज़र रहा है। जो देश दीन-हीन हैं उनमें भूख-महामारी-दरिद्रता ने मनुष्य की अन्तरात्मा को इतना पीड़ित कर दिया है कि मनुष्य की आस्था वर्तमान सामाजिक-संगठन पर से उठती जा रही है, एक नवीन समाज के निर्माण के लिए मानव-समाज चिल्ला रहा है। जो देश सम्पन्न हैं, उन्हें अपने समान दूसरे सम्पन्न देशों से खतरा नजर आता है। विचारों का संघर्ष, विचारों की टक्कर किसी को चैन से नहीं बैठने देती। जैसे कभी भारत में आध्यात्मिक-संकट आया था

और उसकी साकार प्रतिक्रिया के रूप में बुद्ध प्रकट हुआ, जैसे कभी पैलस्टाइन में आध्यात्मिक-संकट आया और उसकी साकार प्रतिक्रिया के रूप में ईसा मसीह प्रकट हुआ, जैसे कभी अरब में आध्यात्मिक-संकट आया और उसकी साकार प्रतिक्रिया के रूप में हज़रत मुहम्मद प्रकट हुआ, जैसे अपने देश में वर्तमान-युग में आध्यात्मिक-संकट आता रहा और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में दयानन्द, गाँधी प्रकट होते रहे, वैसे विश्व के वर्तमान आध्यात्मिक संकट की चुनौती किसी सुप्त हृदय को जागृत करेगी और वह वर्तमान युग का अवतार होगा। समाज की चुनौती जिस हृदय पर चोट कर उसे जगा देती है वही 'अवतार' कहलाता है। वह परमात्मा का अवतार नहीं होता, सम्पूर्ण समाज की पुकार का साकार अवतार होता है।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्कर भाष्य :
   यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः हानिः वर्णाश्रमादिलक्षणस्य प्राणिनाम् अभ्युदयनिःश्रेयस साधनस्य भवति भारत, अभ्युत्थानम् उद्भवः अधर्मस्य तदा आत्मानं सृजामि अहं मायया।
2. सिद्धान्तालंकार, सत्यव्रत (डॉ.) श्रीमद्भगवद्गीता, नवीन संस्करण, विजयकृष्ण लखनपाल, W-77A, ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48, पृ. 210
3. वही, पृ. 210
4. दिव्यजीवन, हिन्दी अनुवाद, श्री अरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी, 1991, पृ. 450, 456
   गीता प्रबन्ध, हिन्दी अनुवाद, जगन्नाथ वेदालंकार, श्रीअरविन्द आश्रम पॉण्डिचेरी, 1969
   श्री अरविन्द के पत्र, प्रथम भाग, हिन्दी अनुवाद, 1974, पृ.45, 47, 49, 64, 65
   माता जी के विषय में, हिन्दी अनुवाद, 1973, पृ. 15
5. सिद्धान्तालंकार, सत्यव्रत (डॉ.) श्रीमद्भगवद्गीता, पृ. 206
6. गीता, 4/9
7. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय 269, आनन्दाश्रम प्रैस पूना :
   स्वायम्भुवो मनुः पूर्वं, द्वादशार्णं महामनुमजगाम गोतमी तीरे, नैमिषे विमले शुभे।।1।। तेन वर्षसहस्रेण, पूजितः कमलापतिः। **मत्तोवरं वृणीष्वेति**, प्राहतं भगवान्हरिः।। ततः प्रोवाच हर्षेण, मनुः स्वायम्भुवो हरिः।।2।। मनुरुवाच-पुत्रत्वं भज देवेश, त्रीणि जन्मानि चाच्युत। त्वां पुत्र लालसत्त्वेन, भजामि पुरुषोत्तमम्।।3।। विष्णुरुवाच-भविष्यति नृपश्रेष्ठ, यत्ते मनसि कांक्षितम्। ममैव च महाप्रीतिस्तव पुत्रत्वहेतवे।।5।। रुद्र उवाच-एवं दत्त्वा वरं तस्मै, तत्रैवान्तर्दधे हरिः। अस्याभूत् प्रथमं जन्म, मनोः स्वायम्भुवस्य च।।8।। रघूणामन्वये पूर्वं राजा दशरथो ह्यभूत्। द्वितीयोवासुदेवोऽभूद् वृष्णीनामन्वये विभुः।।9।। कलौदिव्यसहस्राब्दे, प्रमाणस्या-न्त्यपादके। सम्भल ग्रामके मुख्ये, ब्राह्मणः सं जनिष्यति।।10।। कौशल्या समभूत्पत्नी राज्ञो दशरथस्य हि। यदोर्वंशस्य सेवार्थं, देवकी नाम विश्रुता।।11।। हरिगुप्तस्य विप्रस्य, भार्यादेव प्रभा पुनः। एवं मातृत्वमापन्ना, त्रीणि जन्मानि शार्ङ्गिणः।।12।।
8. वही, अध्याय 105, श्लोक-1 व 25 से 30 :

क. विष्णु जालन्धरं गत्वा, तद्दैत्य पुटभेदनम्।

पातिव्रतस्य भङ्गाय, वृन्दा याश्चाकरोन्मतिम्।।1।।
वृन्दामालिंग्य तद्वक्त्रं चुचुम्बे प्रीतिमानसः।।25।।
रेमे तदेव मध्यस्थो, तद्युक्ता बहुवासरम्।।26।।
कदाचित् सुरतस्यान्ते, दृष्ट्वा विष्णुं तमेवहि।
निर्भर्त्स्यं क्रोधसंयुक्ता, वृन्दा वचनमब्रवीत्।।27।।
धिक् तवेदं हरेःशीलं, परदाराभिगामिनः।
ज्ञातोऽसि त्वं मया सम्यङ् माया प्रच्छन्न तापसः।।28।।
त्वया मायया द्वौ रूपौ, स्वकीयौ दर्शितौ माम्।
तावेतौ राक्षसौ भूत्वा, **भार्यां तव विनेष्यतः**।।29।।
त्वं चापि भार्या-दुःखार्तो, वने कपि सहायवान्।।30।।

शिवपुराण श्री रुद्रसंहिता 2, अध्याय 4, श्री वेंकटेश्वर प्रैस बम्बई :

ख. हे हरे त्वं महादुष्टः, कपटी विश्वमोहनः।
परोत्साहं न सहसे, मायावी मलिनाशयः।।6।।
मोहिनी रूपमादाय, कापट्यं कृतवान् पुरा।
असुरेभ्योऽपापास्त्वं, वारूणीममृतं नहि।।7।।
शशाप क्रोध निर्विष्णो, ब्रह्मतेजः प्रदर्शयन्।।14।।
स्त्रीकृते व्याकुलं विष्णो, मामकार्षी विमोहकः।
अन्वकार्षी स्वरूपेण, येन कापट्यं कार्यं कृतम्।।15।।
तद्रूपेण मनुष्यस्त्वं, भवत दुःखभुग्धरे।
यन्मुखं कृतवान्मेत्वं, ते भवन्तु सहायिनः।।16।।
त्वं स्त्री वियोगजं दुःखं, लाभस्य पर दुःखदः।
मनुष्यगतिकः प्रायो, भवाज्ञानविमोहितः।।17।।

देवीभागवत स्कन्ध 40, अ. 12, श्लोक 8 :

ग. अवतारा मृत्युलोके, **सन्तु मच्छापसंभवाः**।
प्रायो गर्भभवं दुःखं भुङ्क्ष्व पापाज्जनार्दन।।8।।

वही, स्कन्ध 5, अ. 19, श्लोक 18 :

घ. **शप्तो हरिस्तु भृगुणा** कुपितेन कामं,
मीनो बभूव कमठः खलु शूकरस्तु।
पश्चान्नृसिंह इति यच्छलकृद्धरायां,
तान् सेवतां जननी मृत्युभयं न किं स्यात्।।18।।

वही, स्कन्ध 6, अ. 7, श्लोक 34 से 37 :

ङ. भृगु पत्नी शिरच्छेदात् भगवान्हरिरच्युतः।।34।।
ब्रह्मा शापात् पशोर्योनौ, संजातो मकरादिषु।
विष्णुश्च वामनो भूत्वा, याचनार्थं बले गृहे।।35।।
अतः किं परं दुःखं, प्राप्नोति दुष्कृती नरः।
रामोऽपि वनवासेषु, सीता विरहजं बहु।।36।।

दु:खं च प्राप्तवान् घोरं **भृगुशापेन भारत**।।37।।

9. वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग 63, श्लोक 3 से 4 :

क. न मद्विधो दुष्कृत कर्मकारी, मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम्।
शोकेन शोको हि परम्परया मामेति, भिन्दन् हृदयं मनश्च।।3।।
पूर्वमया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसंस्कृतकृतानि।
तत्रायमद्यापततो विपाको दु:खेन दु:खं यदहं विशामि।।4।।

गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, आचारकाण्ड, अ. 113, श्लोक 15 :

ख. ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो, ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे।
विष्णुर्येन दशावतार गहने, क्षिप्तो महासंकटे।।
रुद्रो येन कपालपाणि, पुटके भिक्षाटनं कारित:।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नम: कर्मणे।।5।।

देवीभागवत पुराण, स्कन्ध 1, अ. 7, श्लोक 56 से 61 :

ग. यदिच्छा पुरुषो भूत्वा, विचरामि महार्णवे।
कच्छप: कोल सिंहश्च, वामनश्च युगे-युगे।।56।।
न कस्यापि प्रियो लोके, तिर्यक् योनि संभव:।
नाभवं स्वेच्छया वाम्, वाराहादिषु योनिषु।।57।।
विहाय लक्ष्म्या सह सं विहारं, को याति मत्स्यादिषु हीनयोनिषु।
शय्यां च भुक्त्वा गरुडासनस्थ, करोति युद्धं विपुलं स्वतन्त्र:।।58।।
पुरा पुरस्तेज ऽज शिरो मदीयं, गतं धनुर्ज्यास्खलत्वचापि।
त्वया तदा वाजिशिरो गृहीत्वा, संयोजिनं शिल्पिवरेण भूय:।।59।।
ध्यानतोऽहं परकीर्तितश्च, प्रत्यक्ष मे तत्तव लोक कर्त्त:।
विडम्बनेयं किल लोकमध्ये, कथं भवेदात्मपरो यदि स्यात्।।60।।
तस्मान्नाहं स्वतन्त्रोऽस्मि.....।।61।।

घ. शिवपुराण धर्म संहिता, अध्याय 9, श्लोक 62 से 69

ङ. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ. 272, श्लोक 166-167, आनन्दाश्रम पूना

च. विष्णुपुराण अंश 5, अ. 1, श्लोक 60, 61, 64, 65

छ. मेरुतन्त्र प्रकाश, 17 पृ. 384, वैंकटेश्वर प्रैस बम्बई

10. वाजसनेयि - माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदसंहिता, 40.8 :
'सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।'
अकायम्=नहीं है शरीर जिसका। 'अकाय' होने से ही अव्रणम्=अक्षत, फोडा, छिद्र, जख़्म रहित। अस्नाविरम्=नहीं है, स्नायु (नस-नाड़ी) जहां वह अस्नाविरं स्नायु (नस-नाडी) रहित अकायम् होने से ही शुद्ध सत्व, रज, तम से रहित। -(महीधर भाष्य)
नोट-इस निबन्ध को लिखने में पाद-टिप्पणी सं.4 में उद्धृत श्री अरविन्द से सम्बन्धित हिन्दी में लिखित साहित्य और डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा कृत 'श्रीमद्भगवद्गीता' के हिन्दी भाष्य से विशेष सहायता ली गई है(ले०)।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (32-44) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

प्राचीन आर्ष वाङ्मय में आकाश

–डॉ. मीरा द्विवेदी

संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

पर्यावरण–विज्ञान की दृष्टि से पञ्चमहाभूतों का महत्त्व सर्वोपरि है। पर्यावरण का अध्ययन इनके बिना अधूरा है। ये समस्त जड़–जंगम सृष्टि की रचना का मूलाधार हैं। पंचमहाभूतों में आकाश के अतिरिक्त वायु, अग्नि, जल, पृथिवी तत्त्व मूर्त हैं। आकाश अमूर्त है। भारतीय मान्यता इसे विभु, एक, अनादि, अजन्मा, अनन्त, समस्त भूतकुल की उत्पत्ति, स्थिति और परम गति का स्थान मानती है।[1] आ उपसर्ग पूर्वक 'कश गतिशासनयो:' धातु से घञ् करके निष्पन्न आकाश शब्द का अर्थ है–

– आ समन्तात् कशति गच्छति गतिर्भवति इति आकाश:। अथवा

– आ आभिमुख्येन समन्तभावेन कशन्ति अन्तिमगतित्वेन यान्ति यस्मिन् यं वा स आकाश:।

इन निर्वचनों में से प्रथम का आशय है कि समस्त तत्त्व अपनी उत्पत्ति और स्थिति के लिए आकाश के परायण होते हैं। आकाश उत्पत्ति और स्थिति के लिए उनकी एक मात्रगति (आश्रय) है। द्वितीय निर्वचन के अनुसार समस्त तत्त्वों का लय आकाश में होता है। अन्तिम गति होने से आकाश की यह अन्वर्थ संज्ञा है। दोनों निर्वचनों के सम्मिलित अर्थ के रूप में आकाश सभी भूतों, पदार्थों अथवा पिण्डों की उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान प्रमाणित होता है।

चार्वाकदर्शन आकाश के अस्तित्त्व को नहीं मानता क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है।[2] जैनदर्शन लोक–अलोक में व्याप्त सूक्ष्म सत्ता को आकाश कहता है। आकाश के कारण ही जीव, पुद्गल आदि अस्तिकाय द्रव्यों को स्थान प्राप्त है। जिन द्रव्यों का स्वाभाविक गुण विस्तार नहीं है, उसे आकाश विस्तृत नहीं कर सकता, यह केवल विस्तारधर्मी द्रव्यों के लिए ही स्थान देता है। इसकी शून्यता अभाव की द्योतक नहीं है इसलिए आकाश भी अस्तिकाय द्रव्य माना गया है। इसके दो भेद हैं–(1) लोकाकाश (2) अलोकाकाश। अलोकाकाश लोकाकाश के परे विद्यमान है।[3]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य शब्द गुण का आश्रयभूत द्रव्य आकाश है। शब्द का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है किन्तु आकाश का नहीं होता। शब्द का सर्वव्यापी आधार होने से शब्दज्ञान से ही आकाश का ज्ञान होता है। अनुमान प्रमाण इसकी

ग्राहकता में प्रमाण है। स्पर्श, रूप, रस आदि गुणों का कोई न कोई आधार अवश्य है। शब्द को वायु, तेज, जल अथवा पृथिवी में से किसी का गुण नहीं कह सकते क्योंकि इन द्रव्यों के गुण क्रमशः स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध श्रवणगोचर नहीं होते जबकि शब्द का साक्षात्कार श्रवणेन्द्रिय से होता है। इसकी उत्पत्ति अपेक्षाकृत शून्य स्थान से होती है। आकाश एक, निरवयव और नित्य तत्त्व है।[4] ऊर्ध्व, अधः एवं समस्त दिशाओं में शब्द की स्थिति होने से इसकी विभुता और व्यापकता सिद्ध होती है। सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त होने पर भी यह कर्ण कुहरों में ही व्यक्त होता है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने विशिष्ट तत्त्व के सम्पर्क में आती है और तज्जनित ज्ञान को ग्रहण करती है। यदि आकाश नहीं होता तो शब्द भी नहीं होता।

प्रशस्तपाद भाष्य में आकाश के शब्द, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग और वियोग ये षड् गुण माने गये हैं।[5] उपाधिभेद से इनके घटाकाश, मठाकाश और महाकाश आदि भेद व्यवहार में प्रचलित हैं।

महाभारत में आकाश के दस धर्म बतलाये गये हैं। ये हैं–शब्द, व्यापकता, छिद्रता, अनाश्रयता, अनालम्बनता, अव्यक्तता, अविकारिता, प्रतिघातशून्यता, भूतमत्ता (अर्थात् श्रवणेन्द्रिय ग्राह्यता) और विकृति (शब्दतन्मात्रजन्यता)।[6]

तैत्तिरीयोपनिषद् में परमात्मतत्त्व से सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति मानी गई है।[7] वेदान्तग्रन्थों में भी इसी उपनिषद् के क्रम से तमोगुण प्रधान विक्षेप शक्ति से उपहित चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति सर्वप्रथम प्रतिपादित है।[8] वेदों में भिन्न क्रम दिखाई देता है। हिरण्यगर्भ सूक्त के अनुसार सर्वप्रथम जल विद्यमान था। जलों से सर्वप्रथम हिरण्याण्ड की सृष्टि हुई। भौतिक सृष्टि के पूर्व एकमात्र यही तत्त्व था। इसी ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को धारण किया हुआ था।–

हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋक् 10/121/1

पुरुषसूक्त में परम तत्त्व को विराट् संज्ञा से सम्बोधित करके उसकी विभूति का और अधिक स्पष्टता से कथन हुआ है। यथा–

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ ऋक् 10/90/14

इस ऋचा के अनुसार प्रजापति विराट् की नाभि (मध्यमभाग) से अन्तरिक्ष (वायुमण्डल) की, शिरोभाग (उपरिभाग) से द्युलोक (सूर्यलोक) तथा पैरों (अधोभाग) से भूमि (भूमण्डल) की उत्पत्ति बताई गई है। लोक में ये तीनों लोक इसी अवस्थिति में दिखाई देते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि हिरण्याण्ड में विस्फोट होने से उसके दो भाग द्यावा-पृथिवी

हो गये। यह विस्तार निरन्तर बढ़ता गया। मध्यवर्ती शून्यभाग अन्तरिक्ष कहा गया। द्यावापृथिवी के मध्यवर्ती होने से 'अन्तरीक्षते इति अन्तरिक्षम्' निर्वचन के अनुसार अन्तरिक्ष कहलाया। अन्तरिक्ष द्यावापृथिवी की स्थिति के सापेक्ष है। इन दोनों के कारण ही इसकी सत्ता है। इनसे पृथक् होने पर इसका कोई रूप अवशिष्ट नहीं रहता है। पं. मधुसूदन ओझा ने इसी तथ्य को विशदता से प्रकट किया है–

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं यत् तदन्तरिक्षं भवतीदमाभ्याम्।
द्यावापृथिव्यौ स्थितिमन्वमुष्य स्थितिर्न किंचित् पृथगस्य रूपम्॥

–व्योमवाद 1/1 पृ.1

वेदों में द्यावा-पृथिवी का अनेक मन्त्रों में संयुक्त कथन किया गया है।[9] इसका कारण यह है कि दोनों प्रत्यक्षदृष्ट हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। शतपथब्राह्मण के अधोलिखित वचन से भी दोनों की प्रत्यक्षगम्यता और परस्पराश्रयिता प्रमाणित है–'तौ यौ प्रत्यक्षं दैवतमश्विनाविमे एव ते द्यावापृथिव्यौ'–7/1/5/6

द्युलोक ज्योति से तथा पृथिवी अन्न से सबको व्याप्त करते हैं। इस प्रकार वेदों में द्यु और अन्तरिक्ष पृथक् सत्तायें हैं। अधोलिखित मन्त्र में भी द्यु और अन्तरिक्ष की पृथक् स्थिति निर्दिष्ट है–

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अथर्व. 10/7/32

इस लोक में जो दृश्यमान् है उससे अधिक तीन-चौथाई भाग अदृश्य द्युलोक में विद्यमान है–

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ –ऋक्. 10/90/3

छान्दोग्योपनिषद् में भी तेज (द्यु) अन्न (पृथिवी) अप् (अन्तरिक्ष) रूप विश्व को गायत्र्याख्य ब्रह्म का एक पाद कहा गया है। पुरुष संज्ञक त्रिपाद् अमृतमय प्रकाशरूप स्वात्मा में स्थित है–

तावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥ 3/12/6

आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यता है कि ब्रह्माण्ड में अनेक सौर परिवार हैं। सभी सौर परिवारों का मुखिया अपना-अपना सूर्य है। यही अपने सौर परिवार का संचालक है। उन्हीं में से एक सौर परिवार वह है जिसका अस्मदादि से सम्बन्ध है।

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में आकाश पद प्रयुक्त नहीं हुआ है किन्तु इस अर्थ में द्यु, व्योमन्, वियत् आदि पद प्रचुरता से प्रयुक्त हुये हैं। उपनिषदों में आकाश तत्त्व का इसी नाम से विशद वर्णन हुआ है।

पण्डित मधुसूदन ओझा ने सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में आविर्भूत मानव की सहज जिज्ञासा के समाधान के लिए इतिवृत्तवाद, सदसद्वाद, रजोवाद आदि बारह सिद्धान्तों को उद्घाटित किया है।[10]

वियद्वाद या व्योमवाद सृष्टि की उत्पत्ति व्योम से स्वीकार करता है। समस्त भूतजात इसी में उत्पन्न होते हैं, प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और अन्त में इसी में लय को प्राप्त करते हैं–

आकाश एव प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं भूतकुलान्यमूनि।
भवन्ति चाकाशतः एव तस्मिन्नस्तं प्रयान्ति स्थितिमन्ति चास्मिन्॥[11]

आकाश की एक संज्ञा व्योम भी है। 'वेञ् तन्तुसन्ताने' धातु से 'वयते तद् व्योम' अर्थ में समस्त यज्ञसूत्रों के सन्तनन का आधार होने से आकाश की व्योम-संज्ञा सार्थक सिद्ध है। व्येञ् संवरणे धातु से भी संवरण या आच्छादन की क्रिया का आधार होने से व्योम शब्द निष्पन्न होता है। शतपथब्राह्मण (14/8/13/3) में कहा गया है–

'अन्नं वै वि, अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि'

इसमें 'वि' का अर्थ 'अन्नादि' और 'अव' का अर्थ प्राप्ति मानकर वर्षादि के द्वारा अन्नादि का आधार होने से 'व्योम' पद की निरुक्ति की गई है। 'अव' धातु प्रवेश या आदान अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। अतः व्योम का अर्थ है 'विशेषेण अवन्ति प्रविशन्ति देवा यस्मिन् तद् व्योम' अथवा 'विशेषेण अवन्ति आददति देवा आश्रयत्वेन यत् तद् व्योम'। इन निरुक्तियों से स्पष्ट होता है कि देवता गण व्योम में निवास करते हैं। 'अव' धातु व्याप्ति अर्थ की भी वाचक है अतः 'वि-विशेषेण विविधरूपेण अवति व्याप्नोति सर्वमिदमिति व्योम'। व्यापक आधार होने से भी व्योम संज्ञा की सार्थकता है। उपर्युक्त निरुक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि अन्तरिक्ष और द्यु का सम्मिलित रूप व्योम है। यह वर्षा के द्वारा अन्न का आधार है। यह देवताओं का निवास स्थान है। समस्त तत्त्वों का आश्रय और सबसे व्यापक है। व्योम के स्वरूप को संक्षेप में पं. मधुसूदन ओझा के अधोलिखित शब्दों में स्पष्टतः समझा जा सकता है–

व्योम्नो हि भूतान्यखिलानि भूत्वा
व्योम्न्येव यान्त्यस्तमिमानि काले।
परायणं व्योम ततोऽखिलानां
ज्यायश्च तत भूतकुलेभ्यः एभ्यः॥[12]

समस्त भूत व्योम से ही उद्भूत होते हैं और काल की पूर्ति कर व्योम में ही अस्त हो जाते हैं अतः व्योम ही सबका परायण है और समस्त भूत कुलों से ज्येष्ठतर है।

व्योम दो प्रकार का है–(1) परव्योम (2) अपर व्योम। इनमें परव्योम अमृत है। यह देवयोनि है। इन्द्ररूप है, इन्द्र से सब देव उत्पन्न होते हैं। इस रूप में यह द्युलोक सिद्ध होता है।–

व्योम द्विधोक्तं परमं तु तत्रामृतं स इन्द्रः स हि देवयोनिः।
इन्द्राद्धि देवाः प्रभवन्ति तेषां द्यौ स्थानमेतेऽपि चरन्ति भूमौ॥[13]

दूसरा अपरव्योम भूतयोनि है। वह मर्त्य है और आकाश पद से प्रसिद्ध है। भूलोकस्थ भूत (प्राणी) वाक् से होते हैं। वे अनुषंगवशात् द्युलोक में उत्क्रमण करते हैं–

अथापरं व्योम तु भूतयोनिर्मर्त्यं तदाकाशपदप्रसिद्धम्।
भूस्थानि भूवानि भवन्ति वाचस्तान्युत्क्रमन्ते दिवि चानुषंगात्॥[14]

इस प्रकार व्योमवाद के अनुसार देव और भूत दोनों आकाश में ही हैं। इनसे भिन्न लोक में कुछ नहीं है। देव और भूतों के नाना रूप और भाव मिलकर जगत् है।[15]

सभी देवता परमव्योम में रहते हैं। भूलोकस्थ प्राणियों की उत्पत्ति वाक् से मानने का कारण यह है कि शब्द आकाश का गुण है। आम्भृणीसूक्त में वाक्तत्त्व की सर्वव्यापकता और कारणता का कथन हुआ है।[16] जिस प्रकार आकाश सूक्ष्म और स्थूल उभयविध होता है उसी प्रकार वाणी भी सूक्ष्म और स्थूल है। परमव्योम में रहने वाली वाणी सूक्ष्म और अमर है और भूताकाश में रहने वाली बैखरी वाणी विनाशशील है।

शब्द ही वेद के रूप में विश्व के निर्माण का कारण है। व्योम में ही समुद्र का अस्तित्त्व है। समुद्र में सूर्य है, सूर्य के अहर्मण्डल में पृथ्वी है, पृथ्वी जल में है, जल तेज में, तेज वायु में और वायु व्योम में है। इस प्रकार व्योम ही सबका आधार है–

गतिः पृथिव्या जलमस्य तेजस्तस्यापि वायुर्वियदस्य वायोः।
यदस्ति किंचिद् ध्रुवमस्य सर्वस्याकाशमेवास्ति परायणं तत्॥

पृथिवी प्रतिष्ठा द्युरिदं प्रतिष्ठा तयोः प्रतिष्ठास्ति समुद्र एषः।
तेषां च वेदत्रितयं प्रतिष्ठा तद्व्योम, तदव्योम परा प्रतिष्ठा॥[17]

नाम, रूप और कर्म से वस्तु में पृथक्–पृथक् भेद प्रतीत होता है। इन तीनों क्रियाओं का आधार भी व्योम है। नाम वाक् रूप है। वह आकाश में है। रूप व्यवच्छेदक है। वह भी व्योम के बिना सम्भव नहीं है। कर्म भी स्थान के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए व्योम ही परम गति है।[18]

पं. मधुसूदन ओझा द्वारा प्रतिपादित वियद्वाद या व्योमवाद का आधार छान्दोग्योपनिषद् में दाल्भ्य चैकितायन, शिलक शालावत्य और प्रवाहण जैवलि का सिद्धान्त है।[19] पञ्चाल परिषत् में दाल्भ्य चैकितायन कहता है कि पृथिवी द्यौ के आधार पर टिकी है। द्यौ से उत्पन्न होकर वह द्यौ में ही लीन हो जाती है। इसलिए द्यौ एकमात्र गति है। प्रत्युत्तर में ब्रह्मवादी शालावत्य शिलक का मत है कि द्यौ की प्रतिष्ठा पृथिवी है। पृथ्वी से व्यतिरिक्त द्यौ प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। इन दोनों मतों को अपूर्ण और वेदमत से स्खलित मानकर राजा प्रवाहण जैवलि ने आकाश को सबकी प्रतिष्ठा माना। उनके अनुसार द्यौ और पृथिवी दोनों पिण्ड रूप हैं, अतः नित्य नहीं हो सकते। इसलिए आकाश ही सबकी गति है। वे कहते

हैं 'अस्य लोकस्य का गतिरितेत्याकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रति अस्तं यान्ति। आकाशो हि वा एभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्' (छां. उप. 1/9/1)।

समस्त तत्त्वों का उद्भव आकाश में होता है। आकाश सूक्ष्मतम है इसलिए द्यौ और पृथिवी की प्रतिष्ठा का कारण हो सकता है।

प्रवाहण जैवलि के विचार से आकाश सूक्ष्मतम है। अतः कारण भी वही हो सकता है। कारण सदा कार्य से सूक्ष्म होता है। द्यौ और पृथिवी की तुलना में आकाश सूक्ष्म है। इसलिए इन दोनों का कारण है। इसकी कारणता इसलिए भी है कि आकाश अनादि है। इसका कोई कारण नहीं, अतः उसे ही मूल कारण मानना संगत है। आकाश अग्नि/तेज की अपेक्षा प्रधान है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि आदि प्रकाश पुंज आकाश में ही स्थित हैं। आकाश के कारण ही मनुष्य बोल-सुन सकते हैं। इसी से प्रतिश्रवण कर सकते है।[20] लोक में कार्य की अपेक्षा कारण उत्कृष्ट होता है, जैसे घटादि की अपेक्षा मृत्तिका। इसी कारण यहाँ कार्यभूत तेज आदि तत्त्वों की उपेक्षा आकाश को बढ़कर माना गया है। तेज के पुञ्जभूत सूर्य, चन्द्र आदि की स्थिति आकाश के बिना असम्भव है। अधिष्ठान बड़ा होता है तभी वह अपने से छोटे का आश्रय बन सकता है।

आकाश का एक नाम शून्य भी है। शून्य से तात्पर्य खाली जगह नहीं है। इसमें सर्वत्र ऊर्जा व्याप्त है। आकाश की शून्यता अभावात्मक नहीं प्रत्युत भावात्मक है। शून्य का अर्थ है जिसमें श्वन् है। श्वन् इन्द्र का पर्याय है–'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्' (ऋग्वेद-3/30/22)। जैमिनीय ब्राह्मण (2.234) में भी इन्द्रशक्ति को साक्षात् रूप से शून्य कहा गया है–'यद् वा इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यम् आसीत् तत् शुनम्'। श्वन् या शुन के रूप में इन्द्र ऊर्जा का कारक है। निरुक्त (7/100/2) कहता है–'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्'। अभिप्राय यह है कि आकाश में ऊर्जा इन्द्र के रूप में नाना रूप धारण करती है–'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋक्. 6/47/18)। इन सन्दर्भों के आधार पर वेदरहस्य-मर्मज्ञ दयानन्दभार्गव ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आकाश में व्याप्त ऊर्जा ही विश्व को जन्म देती है।[21]

आकाश के लिए कभी-कभी अन्तरिक्ष संज्ञा का भी प्रयोग किया जाता है। वास्तव में प्राचीन संकल्पना में त्रिलोकी की विचारधारा अत्यन्त प्रथित है। इसके अनुसार द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवी ये तीन लोक मुख्य हैं। निरुक्त, बृहद्देवता आदि में स्पष्टतः इनका उल्लेख है।[22] यदि द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवी ये तीन लोक ही हैं तो आकाश की स्थिति कहाँ हुई जिसे छान्दोग्योपनिषद् में परमगति माना गया? इस प्रश्न का समाधान यही प्रतीत होता है कि द्यु और अन्तरिक्ष की सम्मिलित संज्ञा आकाश है। अमरकोष में आकाश के सोलह अभिधानों में अन्तरिक्ष की भी गणना है।[23] वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुम के अनुसार 'अन्तः' उपपद पूर्वक 'ईक्ष दर्शने' धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय करके छान्दस् ह्रस्व करने पर तथा

पृषोदरादित्व से इत्व करने पर अन्तरिक्ष शब्द की सिद्धि होती है। जिसके निम्नलिखित अर्थ सम्भाव्य हैं[24]–

* स्वर्गपृथिव्योर्मध्य इक्ष्यते

* अन्तः ऋक्षाण्यस्य

* पक्षिमेघसंचारयोग्यस्थानम्

इस आधार पर कह सकते हैं कि सूर्यलोक और पृथिवीलोक के मध्य का अनुभूत होने वाला शून्य स्थान जिसमें ग्रह, नक्षत्र, आदि पिण्डों की अवस्थिति है तथा जहाँ मेघों और पक्षियों का संचार होता है, वह स्थान अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष द्यावापृथिवी के सापेक्ष है। निरपेक्ष रूप से उसका कोई अस्तित्त्व नहीं है इसलिये वेदों में रोदसी, क्रन्दसी एवं संयती द्विवचनान्त पदों से त्रिलोकी की अनेकशः चर्चा हुई है।

समस्त लोक एवं ब्रह्माण्ड को आकाश ही स्थान देता है। स्वर्ग्य-मर्त्य-पाताल, रोदसी-क्रन्दसी-संयती, द्यु-अन्तरिक्ष-भू, आदि त्रिलोकी की अवस्थिति आकाश में ही है। भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तप और सत्य नामक ऊर्ध्ववर्ती लोक तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल एवं पाताल नामक अधोवर्ती लोक पूर्वोक्त लोकत्रय के ही अवान्तर भेद हैं। भूलोक ही पृथिवी लोक है, सूर्यपिण्ड स्वः है। सूर्य और पृथिवी के मध्यवर्ती आकाश का नाम भुवः है यहाँ चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। सूर्य लोक जिसे स्वर्ग तथा इन्द्र लोक भी कहते हैं। इसके ऊपर का स्थान महः लोक है। यह 'मह' लोक ध्रुव के भी ऊपर स्थित आकाश की संज्ञा है। इसके ऊपर जन लोक है। इसका अधिष्ठाता परमेष्ठी कहलाता है। परमेष्ठी के ऊपर का आकाश तप लोक है। इसके ऊपर सत्यलोक है। इसका अधिष्ठाता स्वयम्भू कहलाता है। इन सात लोकों में भुवः, महः और तपः की स्थिति सन्धिभूत आकाश की है।[25]

इन सात व्याहृतियों में स्व और जन दो बार आवृत्त हैं। इनमें भू और स्व का सन्धि स्थल भुवः; स्व और जन का सन्धिस्थल मह तथा जन और सत्य का सन्धिस्थल तप है। इसे और व्याख्यायित करें तो स्पष्ट होता है कि रोदसी नामक प्रथम त्रिलोकी की पृथ्वी है- भू, अन्तरिक्ष भुवः और द्यु स्व है। द्वितीय क्रन्दसी नामक त्रिलोकी की पृथ्वी स्व, अन्तरिक्ष महः तथा द्यु जन है। तृतीय संयती नामक त्रिलोकी की पृथ्वी जन, अन्तरिक्ष तप और द्यु सत्य है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में त्रिलोकगत तीन पृथिवियाँ, तीन अन्तरिक्ष और तीन द्यु (स्वर्लोक) स्थान हैं। ऋग्वेद की अधोलिखित ऋचा उक्त मान्यता की पुष्टि करती है–

त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्रीरजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।
तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्रः इन्वति त्रिभिर्व्रतैरभि नोरक्षति त्मना।।

ऋक्-4/53/5

इनमें क्षोभ के पूर्व की शान्त अवस्था संयती की है। क्षुब्ध अवस्था क्रन्दसी की और क्षोभ के परिणाम स्वरूप होने वाली अवस्था रोदसी है। इस प्रकार भूः, भुवः, स्वः, के

अनन्तर की स्थितियाँ हैं। स्वः, महः, जनः, क्षोभ की स्थितियाँ हैं और जनः, तपः, सत्य, क्षोभ के पहले की स्थितियाँ हैं। भू, भुवः, स्वः हमारी द्यावापृथिवी है, जिसकी संज्ञा रोदसी है। स्वः, महः, जनः की त्रिलोकी में परमेष्ठी है, जहाँ क्षोभ प्रारम्भ होता है और जनः, तपः, सत्यं, क्षोभ के पहिले की स्थितियाँ हैं। जिसमें स्वयम्भू मण्डल है। क्षोभ से सूर्य का जन्म वह समुद्र बीच मानो एक जल बिन्दु के समान स्थित है।[26] निम्नलिखित तालिका से तीनों त्रिलोकियों को स्पष्ट किया जा सकता है।

भू भुवः स्वः	रोदसी	प्रथम त्रिलोकी
स्वः महः जनः	क्रन्दसी	द्वितीय त्रिलोकी
जनः तपः सत्य	संयती	तृतीय त्रिलोकी

इस प्रकार वैदिक-विज्ञान के पण्डितों ने ब्रह्माण्ड विषयक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया है।

प्राचीनकाल में आकाश का सम्बन्ध प्रकाश और प्रकाश देने वाले ग्रहों से मानकर तत्सम्बन्धी ज्ञान को ज्योतिषशास्त्र की संज्ञा दी गई थी। भारतीय ज्योतिषविद्या विभिन्न आकाशीय पिण्डों की अवस्थिति और गति का पृथिवी पर निवास करने वाले मानव के जीवन और उसके चतुर्दिक् उपस्थित प्रकृति-जीव-जगत् पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करने वाली विद्या है। सूर्य और अन्य ग्रहों की शक्ति से ही पृथ्वी पर जीवों की सृष्टि और विनाश होता है। आकाश की संज्ञा खगोल भी है। खगोलक में ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी आदि अपनी-अपनी कक्षा में भ्रमण करते हुए सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। आकाश की 'ख' संज्ञा के कारण इन्हें खेचर भी कहते हैं (खे आकाशे चरन्तीति)। प्राचीन खगोल विद्या में नौ ग्रह माने गये हैं। इनमें सूर्य सर्व प्रमुख है। सूर्य की प्रमुखता के कारण ही उसे द्युलोक का अधिपति माना जाता है। अपनी-अपनी विशिष्टताओं और क्रियाओं के कारण सूर्य ही अश्विनी, त्वष्टा, सविता, पूषा, विष्णु आदि नामों से कहा जाता है। मानव, तिर्यक् स्थावर जंगम आदि समस्त पदार्थों को ग्रहण एवं धारण करने के कारण ग्रह संज्ञा का विधान है। वेदों में ग्रहों के लिए रोचन, नक्षत्र, उक्षा आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद कहता है–

'शतं श्वेतास उक्षणोः' (ऋक्-8/55/2)

सूर्य अपने स्थान पर गति करता है। पृथिवी इसके चारों ओर परिभ्रमण करती है। जिस परिधि में पृथिवी का परिभ्रमण होता है उसे क्रान्तिवृत्त कहते हैं। ये राशियाँ मेष, वृष आदि जीवों एवं पदार्थों की आकृति से साम्य रखती हैं। इनकी आकृति के आधार पर इनका नाम मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन रखा गया है। ऋग्वेद के अधोलिखित मन्त्र में स्पष्टतः द्वादश राशियों के संकेत के साथ सम्पूर्ण संवत्सर चक्र को संकेतित किया गया है–

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेतः।
तस्मिन् त्साकं त्रिंशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चला चलासः॥

—ऋक् 1/164/48

भारतीय ज्योतिषविद्या में ऋषियों का भी विशेष महत्त्व है। आकाश में तारामण्डल ऋषि रूप माना जाता है। वैदिक साहित्य में सृष्टि-प्रवर्तक, वेद प्रवर्तक एवं गोत्रप्रवर्तक त्रिविध सप्तर्षियों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें सृष्टिप्रवर्तक ऋषि प्राण हैं। इनके नाम हैं मरीचि, अंगिरा वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह एवं क्रतु। ऋषियों ने सृष्टि की उत्पत्ति में इच्छा, श्रम और तप का सहारा लिया था—

ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः।
श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मात् ऋषयः॥ शत.ब्रा. 6/1/1/1

व्योमकक्षा को छोड़कर आकाश में विद्यमान होकर जो ध्रुव की परिक्रमा करते हैं उन्हें ऋषि कहते हैं। अथर्ववेद के अधोलिखित मन्त्र में सप्तर्षियों का सम्बन्ध उदीची दिशा से माना गया है—

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत्।
तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलन्॥

—अथर्व, 15/2/21, 22

नक्षत्र

व्योमकक्षा में निश्चित अन्तराल में स्थित रहकर दृष्टिगत होने वाले तारे नक्षत्र कहलाते हैं। अथर्ववेद के काल में ही 28 नक्षत्रों की गणना कर ली गई थी।[27]

भारतीय ऋषियों ने प्राचीन काल में यन्त्रशालाओं के अभाव में भी अपनी दिव्य ज्ञान शक्ति के द्वारा आकाशमण्डल के समस्त प्रमुख पिण्डों और प्रभावशाली पिण्डों का तथा ग्रहादि की गतियों का अन्वेषण कर विविध गतियाँ और सिद्धान्त निश्चित किये थे। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि की एक संज्ञा गौ भी है। गौ संज्ञा का तात्पर्य है—'गच्छति' अर्थात् जो गतिशील या चलायमान है, उन्हें गौ कहते हैं। सभी ग्रह अपनी-अपनी परिधि में आकाश में घूमते रहते हैं। निरुक्त कहता है—

सूर्यरश्मिन् चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते

(निरुक्त 2/6)

मैत्रायणी उपनिषद् (1/4) में ध्रुव को भी गतिशील कहा गया है—ध्रुवस्य प्रचलनम्। बिना परिभ्रमण के कोई भी पिण्ड नहीं रह सकता। अन्तरिक्ष में स्थित वातसूत्र नक्षत्रों को फैलाते हैं—

आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् रोचना दिवः।
मरुतः सोमपीयते। —ऋक्. 8/94/9

इसी आधार पर दिन-रात का विभाग होता है तथा ऋतुयें परिवर्तित होती हैं। यजुर्वेद[28] में दो-दो मास की छः ऋतुओं का वर्णन आया है। मधु और माधव वसन्त, शुक्र और शुचि ग्रीष्म, नभ और नभस्य वर्षा, इष और ऊर्ज शरत्, सह और सहस्य हेमन्त, तप और तपस्य को लेकर शिशिर ऋतु आरम्भ होती है। इन्हीं के आधार पर चैत्र को मधु, वैशाख को माधव, ज्येष्ठ को शुक्र, आषाढ मास को शुचि, श्रवण मास को नभ, भाद्रपद मास को नभस्य, आश्विन मास को इष, कार्तिक को ऊर्ज, मार्गशीर्ष को सह, पौष मास को सहस्य, माघ मास को तप और फाल्गुन को तपस्य कहते हैं। अथर्ववेद में भी षड्ऋतुओं का नामोल्लेख हुआ है–

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥

–अथर्व, 12/1/36

इस प्रकार प्राचीन काल में ही आकाश एवं अन्तरिक्ष विषयक प्रचुर ज्ञान आविर्भूत हो चुका था। भारतीय मनीषियों ने आकाश का केवल भौतिक दृष्टि से ही वर्णन नहीं किया, आध्यात्मिक दृष्टि से भी इसके स्वरूप का उद्घाटन किया है।

छान्दोग्योपनिषद् (3/12/6) के अनुसार तेज, अन्न अप् रूप विश्व गायत्र्याख्य ब्रह्म का एक पाद है। पुरुष संज्ञक त्रिपाद् अमृतमय प्रकाशमय स्वात्मा में स्थित है। आकाश भूताकाश, देहाकाश और हृदयाकाश भेद से तीन प्रकार का है तथापि इसका वास्तविक रूप ब्रह्म से अभिन्न है। जो पुरुष (ब्रह्म) से बाहर आकाश है, वही पुरुष के भीतर भी है। जो पुरुष के भीतर है वही हृदय के भीतर भी। भूत, देह, हृदय के भेद से आकाश का भेद उपाधिगत भेद ही है। इस भेद का कारण भी यही है कि जिसकी जाग्रत अवस्था में उपलब्धि होती है। ऐसे आकाश में दुःख की बहुलता देखी जाती है। इसकी अपेक्षा स्वप्न में उपलब्ध होने वाले शरीरान्तर्गत आकाश में स्वप्न देखने वाले को मन्दतर दुःख होता है। किन्तु हृदयस्थ आकाश में जीवन न तो किसी भोग की इच्छा करता है और न कोई स्वप्न ही देखता है अतः सुषुप्ति स्थानगत आकाश सम्पूर्ण दुःखों का निवृत्ति रूप है।[29]

भौतिक और आध्यात्मिक उभयविध आकाश तत्त्व प्राणियों को प्रभावित करता है। आत्मा, जगत्, भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ आकाश से ही ओतप्रोत है। कोई भी गतिविधि यदि आकाश में होती है तो वह भूमण्डलवासियों को प्रभावित करती है और भूमण्डलगत गतिविधियाँ आकाशीय जगत् को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। इस प्रकार द्यु और पृथिवी का जीवन एक दूसरे के अधीन है।

वेदों में आकाशीय शक्तियों की शान्ति और पुष्टि की कामनायें प्रचुरमात्रा में की गई हैं। एतदर्थ अथर्ववेद के 19वें मण्डल का नवम और दशम सूक्त द्रष्टव्य हैं। यहाँ समस्त पार्थिव और द्युलोकीय शक्तियों की शान्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। एक मन्त्र द्रष्टव्य है–

शं नो ग्रहाश्चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः॥
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु।
विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवा शर्म यच्छन्तु॥

—अथर्व 19/9/10, 12

इन तत्त्वों से शम्, शान्ति, शर्म एवं कल्याण तभी सम्भव है जब आकाश प्रदूषण रहित हो। आधुनिक समय में विविध उपग्रहों के प्रक्षेपण, विविध उद्योगों और यन्त्रालयों से निःसृत हानिप्रद धूम से अन्तरिक्ष प्रदूषित हो गया है। समय समय पर अम्लीय वर्षा के रूप में भूमण्डलवासियों के लिए विष का वमन करता देखा जा सकता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि प्रदूषित गैसों के अतिसंचय से ओजोनपरत में छिद्र हो गया है जो भूमण्डलवासियों के लिए असमय में अनेक रोगों का कारण है।

ध्वनिप्रदूषण का सम्बन्ध भी मूलतः आकाश तत्त्व में आयी विकृति से है। आकाश का गुण शब्द है। अतः आकाश में उत्पन्न विकार शब्द गुण को प्रदूषित करता है। औद्योगिक यन्त्रालयों से प्रसृत यन्त्रों का शोर, वाहनों की कर्कशध्वनि, उत्सवों और सार्वजनिक आयोजनों में ध्वनिविस्तारक यन्त्रों से प्रसारित कर्णज्वरकारी, कनफोडू, कर्कश वाद्ययन्त्रों की ध्वनियाँ प्रदूषण के विज्ञानप्रदत्त उपादान हैं। इनसे चित्त में विक्षिप्तता, मनोरोग, बधिरत्व आदि की बढ़ती घटनाएँ प्रगतिशील समाज को सचेष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। इसका निवारण ध्वनिशुद्धि या शब्दशुद्धि से सम्भव है। इसके लिए अनेक उपाय हो सकते हैं। संस्कृत स्तोत्रों का पाठ, उदात्तादि स्वर के साथ वेदमन्त्र पाठ। इनसे कर्णतन्त्रियाँ झंकृत और सक्रिय होंगी। संगीत का मधुर नाद भी कर्ण प्रिय होने से प्रदूषण रहित होता है और मनोरोगों का उपचार करता है। पशु-पक्षियों का मन्द नाद, कलरव जीवनदान की क्षमता रखता है। मन्दिर से निःसृत घण्टानाद और शंखध्वनि स्वाभाविक रूप से मन एवं चेतना का विस्तार कर आत्मिकशान्ति प्रदान करती है। लेकिन इन्हें ध्वनिविस्तारक यन्त्रों के प्रयोग से कर्णज्वर का कारण नहीं बनाना चाहिये। मौन साधना का भी एतदर्थ महत्त्व छिपा नहीं है।

औद्योगिक मशीनों और वाहनों से निःसृत ध्वनि पहले भूमण्डल पर ध्वनिप्रदूषण करती है और फिर आकाश में जाकर निःशब्द हो जाती है। आकाश शब्द को आत्मसात् कर लेता है। भूमण्डल को ध्वनिप्रदूषण से बचाने के लिए ध्वनिसंयमन यन्त्रों का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। विषाक्त गैसों से होने वाले आकाशीय प्रदूषण का निवारण करने में यज्ञ की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। यज्ञों से उत्सर्जित धूम पर्यावरण शोधन में नितान्त उपयोगी है। कालिदास ने भी (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/1) शब्द गुण विषयक आकाश को शिव का रूप मानकर मानव के कल्याण की कामना की है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि आकाश तत्त्व प्राणिजगत् के अस्तित्त्व के लिए परम आवश्यक है। इसकी प्रदूषणहीनता में ही चराचरजगत् का कल्याण अन्तर्हित है।

अतः आकाशीय शक्तियों से कल्याण की कामना के साथ इसके प्रदूषणमुक्ति का संकल्प मानव का दायित्व है–

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा॥ –अथर्व. 19/9/6

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी

1. क) आकाशमेतं विभुमेकमाहुर्न कारणं तस्य न जन्ममृत्यू।
   नान्तोऽस्य नादिर्नच संप्रतिष्ठा न वा किमप्यस्ति तमन्तरेण।।
   ख) आकाश एव प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं भूतकुलान्यमूनि।
   भवन्ति चाकाशतः एवं तस्मिन् अस्तं प्रयान्ति स्थितिमन्ति चास्मिन्।।
   –व्योमवाद(मधुसूदन ओझा), सम्पा. दयानन्दभार्गव, जोधपुर विश्वविद्यालय पृ. 2,3
2. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः। –सर्वदर्शनसंग्रह(माधवाचार्य)चार्वाकदर्शन-3
3. द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र)-9, व्या. विजयकुमार जैन, पृ.57-58
4. शब्दगुणकमाकाशम्, तच्चैकं विभु नित्यं च। –तर्कसंग्रह, (द्रव्यलक्षण प्रकरण) पृ.13
5. तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथकत्वसंयोगविभागाः। –प्रशस्तपादभाष्य (भाष्यकार दुण्ढिराज) चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1966, पृ. 36
6. महाभारत, शान्तिपर्व, 255/6
7. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः –(तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1/1)
8. तमः प्रधान विक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। –वेदान्तसार (सदानन्द) व्या. राममूर्तिशर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1978, पृ. 42
9. ऋक्. 2/12/13; 10/35/3; 10/66/9; 10/44/9; 10/93/1, अथर्व. 2/41/20 अथर्व. 20/34/14, तै. सं. 4/1/11/4
10. इतिवृत्तं सदसद्वा रजो वियद्वापरं तथावरणम्।
    अम्भोऽमृत्यू वाऽहोरात्रो दैवसंशयौ ब्रह्म।।
    एते द्वादशवादाः शास्त्रेऽस्मिन् ब्रह्मविज्ञाने।
    श्रूयन्ते तत्रायं वादो नवमोऽत्र सम्पूर्णः।। –व्योमवाद, पृ.VIII
11. व्योमवाद, 1/7 पृ. 2
12. व्योमवाद, परिशिष्ट प्रथम (टिप्पणी अनुवादकर्ता –पं. अनन्तशर्मा) पृ. 34
13. व्योमवाद, परिशिष्ट प्रथम (अनु. पं. अनन्तशर्मा), श्लोक संख्या-11, पृ. 36
14. पूर्वोक्त, श्लोक संख्या, 12, पृ. 36
15. पूर्वोक्त, श्लोक संख्या, 13, पृ. 36
16. ऋग्वेद, 10/125/1-8
17. व्योमवाद, (प्रथमपरिशिष्ट) पं. अनन्तशर्मा, श्लोक 5, 6, पृ. 35, 36

18. नाम्ना च रूपेण च कर्मणा च प्रभेदतो वस्तुनि संप्रतीतिः।
नाम्नश्च रूपस्य च कर्मणश्च व्योमैव निर्वाहकमेकमस्ति।।
रूपं व्यवच्छेद इहैष नर्ते व्योम्नोऽन्तरस्थादवकाशतः स्यात्।
द्रव्यं व्यवच्छिन्नमिहास्ति यत्तद् वागस्ति यद् वाक्प्रभवं च भूतम्।।
—व्योमवाद, (पूर्वोक्त) पृ.35
19. छान्दोग्योपनिषद्, 1/8/5, 7
20. (क) स्मरो वावाकाशाद् भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कंचन श्रणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्.....। —छां. उप. 7/13/1
(ख) आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वय-त्याकाशेन प्रति शृणोत्यकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति। —छां. उप. 7/12/1
21. वेदविज्ञानवीथिका, दयानन्दभार्गव, पृ. 245
22. निरुक्त 7/5, बृहद्देवता, 1/69
23. अमरकोष (अमरसिंहः) 1/2/31-33
24. वाचस्पत्यम्, प्रथमभाग, पृ. 200, शब्दकल्पद्रुम प्रथमभाग, पृ. 54
25. वेदविज्ञानवीथिका, दयानन्दभार्गव, पृ. 19, 112
26. यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु।।
अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु।। —अथर्व. 19/8/1, 2
27. यजुर्वेद-13/25, 14/6, 15, 16, 27
28. छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य (गीताप्रेस गोरखपुर) 3/12/7-9, पृ. 247

✦✦✦

न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन।
प्राणियों के सोने पर उनका प्राण भी सोया हो,
ऐसा आज तक किसी ने नहीं सुना।

प्राण मा मत् पर्यावृतः। -अथर्व. 11.4.26
हे प्राण! तू मुझसे पृथक् मत हो।

प्राण बध्नामि त्वा मयि। -अथर्व. 11.4.26
हे प्राण! तुझे मैं अपने अन्दर बांध लेता हूँ।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (45-52) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

अक्षरशक्तिर्गरीयसी

–प्रो. रूप किशोर शास्त्री

प्राक्तन–सचिव म.सा.रा.वे. वि.प्र. उज्जैन,
(मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार)
प्रोफेसर–वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

चारों संहितानिहित ऋचाओं एवं उनकी उपलब्धानुपलब्ध 1127 शाखाओं में अपौरुषेयवाक्स्वरुपा पावन ऋचाएं चतुष्पादीय अखिल ब्रह्माण्ड की स्वयं में शक्ति तत्त्व की नित्य प्रतिनिधि हैं। समस्त ऋचाएं एवं संहिताएं वाक्तत्त्व से आवृत हैं। यही वाक् तत्व साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के हृदय में आविर्भूत हुआ था, जिन्होंने पश्चाद्वर्ती असाक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को श्रुति परम्परा से इसकी शक्ति को पहचानकर लोक व्यवहारार्थ एवं सृष्टि के प्रकृत विकृत ज्ञान विज्ञान के ज्ञानार्थ स्थानान्तरित किया। इस समस्त वाक्तत्त्व को परवर्ती वैदिक वाङ्मय ने ब्रह्मतत्व कहा है। **वाग्वै गीः**–यजु.12/68, **वाग्वै धेनुः**–तां ब्रा.18/9/21, **वाक् वै सरस्वती**–ऐत.3/1, 2/24, **वाग्घि सरस्वती**–ऐत.ब्रा. 3/2, तां ब्रा.6/7/7, **वाग्वै समुद्रः**–तां.ब्रा.7/7/6, **वाग्वै सरिरं**–यजु.13/53, शत.ब्रा.7/5/2/53, **वाग्वै सिनीवाली**–यजु. 11/55, शत.ब्रा.3/5/1/34, **वागेवर्क**–शत.ब्रा.14/4/3/12, **वाग्घि ब्रह्म**–ऐत.ब्रा.2/15, **सा या वाक् ब्रह्मैव तत्**–जैमि.उ.ब्रा.2/13/2, **वाग्घि शस्त्रम्**–ऐत.3/44, **सा या वाक् आसीत् सोऽग्निरभत्**–जै.उप.ब्रा.2/2/1, **वागेवाग्निः**–शत.ब्रा.3/2/2/13, **वाग्वै यज्ञः**–शत.ब्रा.1/1/4/11, **वाग्घि वज्रम्**–ऐत.ब्रा.4/11, **वाक् वै ब्रह्म** वृहदा. इत्यादि प्रवचनपुरस्सर स्थलों में वाक् को गीः धेनुः, सरस्वती, समुद्र, सरिर, सिनीवाली, सावित्री, रेवती, विराट्, ऋक्, ब्रह्म, शस्त्र, अग्नि, यज्ञ, वज्र इत्यादि प्रसिद्ध संज्ञाओं से उद्धृत किया गया है। इन उक्त नामों से वाक् तत्व के व्यक्तित्व को उक्त सभी शास्त्रों में समलंकृत किया गया है। आचार्य देवराज यज्वा ने अपनी निघण्टुवृत्ति में वाक् तत्व को वागिन्द्रिय रूप में भौतिकार्थ प्रस्तुत किया गया है वहीं इसे ब्रह्माण्ड अधिष्ठात्री देवता स्वीकार किया है–**वाक्। उच्यते इति वाक् इन्द्रियम्, तत्कार्यं शब्दोऽप्युच्यते इति वाक्, तदधिष्ठात्र्यपि देवता वागिष्यते**–निघ.वृ.1/11/50

सामवेदीय ब्राह्मणकार ने वाक् में प्राण एवं प्राण में वाक् दोनों को परस्पर प्रतिष्ठित माना है[1], यही कारण है कि इनका मिथुन है।[2] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में भी यही उल्लेख है।[3] वाक् छै स्वयम्भुव देवताओं में से एक है।[4] ताण्ड्य ब्राह्मण ने वाक् को सरस्वती[5] तथा अन्य ग्रन्थों ने ऋक्[6] भी कहा है, जो प्रायशः ज्ञान का प्रतीक एवं पर्याय है। ताण्ड्य

ब्राह्मणकार ने वाक् को शबली पद से विभूषित किया है।[7]

सायण ने अपने भाष्य में शबली को कामधेनु बताते हुए प्रतीकात्मक तुलना की है कि जैसे कामधेनु अपने वत्स के लिये सुख, स्नेह की वर्षा करती है तथैव वाक् भी अपने जिज्ञासु अधिकारी को सुख, स्नेह तथा आनन्द की वृष्टि करती है।[8] ऋग्वेद-10/71/4 में वर्णित प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है कि वाक् अपना वास्तविक स्वरुप प्रमाताधिकारी के लिये प्रस्तुत कर देती है, निःसन्देह यही वाक् का शबली रूप है। चूंकि वाक् को ऋक् कहा गया है, इसी ऋक् में साम प्रतिष्ठित[9] है और स्वयं जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण वाक् को ऋक् कहता ही है।[10] तथा ताण्डय ब्राह्मण 12/5/12 में **"वाचः साम भवति"** द्वारा उक्त सन्दर्भ को पर्याप्त आयाम मिलता है इससे पुष्ट हो जाना स्वभाविक है कि वाक् ने ही छन्दस् अर्थात् ऋचाओं का रुप ग्रहण कर लिया।[11]

जैमिनीय ब्राह्मण ने सृष्टि से पूर्व विद्यमान एक अक्षर सत्ता का उल्लेख किया है, वह अक्षर सत्ता वाक् ही थी।[11] वह वाक् अमृत रूप में व्योमान्त थी पश्चात् में वहिर्भूः संज्ञा होकर उत्तम ज्योतिर्मय हुई। ऋत, सत्य विज्ञान आदि में प्रतिवाची सत्ताएं पहले ही वाक् ही थी।[12] ब्रह्म की शक्ति और वाक् को ब्रह्म से अ-विनाभाव सम्बन्ध के रूप में माना है।[13] संभवतः इसी कारण से वाक् को भी ब्रह्म कहा गया है।[14] वास्तविकता यह है कि वाक् ब्रह्म की रेतस्[15] (वीर्य) है, और उसे त्रिवृत कहा है।[16] इस त्रिवृत् को रेतोधा, रेतस् और जनयिता के रूप में स्वीकार किया जाता है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के अनुसार यह जो आकाश है वह वाक् ही है, आकाश से वाक् उच्चरित होती है यही वह वाक् है जिसे प्रजापति ने त्रयी विद्या (ज्ञान-कर्म-उपासना) की प्राप्ति की। ये लोक, अग्नि, वायु, आदित्य, व्याहृति (भू-भुवः-स्वः) और ओम् उ-उ-म् अक्षर भी इसी वाक् की रेतस् रूप है।

"वाग् वै ब्रह्म" वाक् वाणी अथवा शब्द ही ब्रह्म है। **'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्। अथेद्वाक् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न पदं यच्च नाह'**।।[17] अर्थात् वाक्तत्व ही सम्पूर्ण भुवनों के रूप में समुत्पन्न होता है, वाक् से ही नित्य और अनित्य पदार्थ पैदा होते हैं, वाक् ही भोक्त्री है, वाक् ही विविध अर्थों को प्रकट करती है अथवा वाक् ही अनन्त प्राणियों में उपस्थित होकर अव्यक्त होती है, वाक् से अतिरिक्त कोई और अभिधेय नहीं है।

वाक्यपदीयम् में भृतहरि ने-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[18]

अपनी इस कारिका में अक्षर स्वरूप वाक्तत्व को अनादिनिधनं अर्थात् विकारशून्य ब्रह्मतत्व कहा है। इस संसार में घटापटादि वस्तु रूप से जिन क्रियाओं का सम्पादन हो रहा है। वाक्तत्व ही विवर्तोपादान कारण माना गया है। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श ग्रन्थ में-**वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते**[19] काव्यादर्श कहकर वाक् शक्ति के दर्शन करा

दिये हैं कि वाक् प्रसाद से ही इस सम्पूर्ण लोक का व्यवहार चिरन्तन एवं निरन्तर प्रवर्त्तमान है। ऋग्वेद में भी वाक्तत्व की महती शक्ति का दर्शन मूलतः प्रदर्शित है। ऋग्वेद के वागम्भृणी सूक्त के पाँचवें मन्त्र में उल्लेख है कि वाक्तत्व के नियन्त्रण में मनुष्य, देव, ऋषि, सुमेधा यहां तक कि ब्रह्म भी व्यवहृत है। अतः यह समस्त सर्वपदार्थनिर्मात्री, नियन्ता एवं सर्वव्यापक है।[20] इसी मन्त्र की व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में छान्दोग्योपनिषद् में वाक्तत्व की अनन्त शक्ति तत्व की मीमांसा की गई है। जहां ऋग्., यजु., साम. अथर्व., इतिहास, पुराण, देवनिधि, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, यज्ञविद्या, नक्षत्रविद्या, सृष्टि के पांचों भूतत्वों देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंग, धर्म अर्थात्, सत्य-असत्य, साधु-असाधु इत्यादि को वाक्तत्व द्वारा विज्ञापित किया गया है।[21] ऐसा ही उल्लेख वृहदारण्यकोपनिषद् में भी है। जहाँ वाक् ही विस्तृत आकाश है, इसी में समस्त ज्ञान के भण्डार माने जाते हैं। अतः इसकी शक्ति को देखते हुए इसे **वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म** कह दिया है।[22]

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् के ब्रह्मकाण्ड में **अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते**[23] इस कारिका द्वारा स्पष्ट किया गया है कि संसार में ज्ञान की समस्त विधाएं वाक्तत्व द्वारा ही उद्घाटित होती है। महाकवि दण्डि ने घोषणा की है कि संसार में यदि वाक्ज्योति नहीं होती तो यह भुवनत्रय अन्धकारमय ही होता।[24]

अव्यक्तम्भूता एवं व्यक्तम्भूता वाक्

ताण्डव ब्राह्मणकार वाक् को सकल साधन तथा व्यवहारभूता मानता है।[25] आचार्य सायण ने **"सर्वां वाचं"** पद का अर्थ **"लौकिकीं वैदिकीं च वाचम्"**[26] करके दो प्रकार की वाक् को स्वीकार करने में सहमति व्यक्त की है इसे वाक्-प्रकार का निश्चित उल्लेख नहीं माना जा सकता है। परन्तु सामवेद के **तिस्त्रो वाचः ईरयति प्रवह्निर्ऋतस्य धीति ब्रह्मणो मनीषाम्** साम मन्त्र संख्या 525 और **तिस्त्रो वाचः उदीरत गावो मिमन्ति धेनवः। हरिरेव कनिक्रदत्**-साम मन्त्र संख्या 471 के आधार पर वाक्त्रय ग्राह्य है। यहां पर प्रायः सभी भाष्यकार ऋग्-यजु-साम को त्रयात्मक वाक् स्वीकार करते है।[27] (ऋग्वेद-1/164/45) मन्त्र में चार प्रकार की वाक् का वर्णन देखने को मिलता है।[28] महर्षि दयानंद ने इस मन्त्र के भाष्य में नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात के प्रकार में स्वीकार किया है[29], जो निरुक्त (प्रथम अध्याय) का ही सिद्धान्त है। मनुष्यों द्वारा प्रयुज्यमान् वाक् उनके मत में निपात है।

वाक्यपदीयम् में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी इन चार विधाओं में विभज्यमान् वाक् का उल्लेख अत्यधिक प्रसिद्ध है।[30] इस वाक् तत्व की इन्हीं चार अवस्थानों को अव्यक्त वाक् और व्यक्त वाक् में वर्गीकृत किया जा सकता है, अथवा अव्याकृत और व्याकृत दो परिभाषिक विभाग भी उल्लेखनीय है।[31] परा, पश्यन्ती, मध्यमा नामक अव्यक्त या अव्याकृत वाक् तथा बैखरी वाक् अथवा तुरीय वाक् ही व्यक्त वाक् या व्याकृत वाक् है। अव्यक्त वाक् आभ्यन्तर जगत् में गुह्य तथाच अव्यक्ततः अन्तर्निहित है। ऋग्वेद 10/71/1 का प्रमाण साक्ष्य होने से उक्त सन्दर्भ को पुष्टि मिलती है कि अव्यक्त वाक् सर्वविध

कल्याणार्थ समस्त मनुष्यों के अन्तःस्थित व निगूढ़ तो है ही अपितु इस वाक् को मुख्य, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ एवं निर्दोष ज्ञान भी बताया है।[32] ऋग्वेद में **प्रथमं, "वाचोऽग्रं, नामधेय दधाना, श्रेष्ठं, अरिप्रं, प्रेणा** और **गुहानिहितं** आदि पद परावाक् की महिमा, महत्व एवं शक्ति के ज्ञापक हैं। सर्गावस्था के पूर्व भी परमात्मा के ज्ञान में रहने के कारण **"प्रथमं"**, समस्त वाक् का उद्गम स्थल एवं कारणरूप से **वाचोऽग्रं,** सृष्टि के समय समस्त चेतनाचेतन भूततत्वों के नामकरण के उद्देश्य से **"नामधेयं दधानाः"** व्याकरणादि संस्कारों से अनावद्धत्वात् **श्रेष्ठं,** समस्त प्राणियों के निमित अभ्युदय तथा निश्श्रेयस् भूत होने के कारण **"अरिप्रं"**, मानवजाति के लिये प्रेरणा स्त्रोत है इस कारण से इसकी संज्ञा **प्रेणा** और समस्त भूतों में अन्तर्निहित है, इसलिए इस वाक् को **"गुहानिहितम्"** कहा गया है। इस अव्याकृत वाक् के अवस्थानत्रय सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होने के कारण क्रमशः मध्यमा, पश्यन्ती व परा नाम से स्वीकार्य है।

कारण रूप में अव्यक्त परावाक् प्रकृति अति सूक्ष्मतम अवस्थाभूत अन्य समस्त वाक् की मूल है। **"यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्"**–ऋग्.–10/114/8, **"विशुद्धां विराजति वाक् पतंगाय धीयते"** ऋग्वेद–10/189/3 **"ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम"** ऋग्.–1/164/36, **"ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम"**–तै.ब्रा., 3/9/5/5, **"वाग्घि इदं ब्रह्म"**–ऐत.ब्रा.2/15, **"वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते"** ऐ.ब्रा.5/16, **"वागिति द्यौः"**–जै.उ.ब्रा. 1/1/2/1 इत्यादि प्रमाणों से परावाक् की नित्यता, सूक्ष्मता स्वीकार करने में प्रायः मतैक्य है।

परावाक् के स्वरूप में मूलतः होने वाली हलचल ही पश्यन्ती वाक् है, अर्थात् गुह्यरेष्ठा परावाक्, वाक्–विस्तार के फलस्वरूप पश्यन्ती नामक स्थिति में परिणत हो जाने के साथ ही इसकी संज्ञा **ज्ञान** हो जाती है। पश्यन्ती की अवस्था में आत्मदृष्टि के माध्यम से ज्ञान की धाराएं या ज्ञान तरंगें प्रस्फुटित होने लगती हैं। निष्कर्षतः परावाक् के व्यक्तित्व का विकसित प्रथम सोपान ही **पश्यन्ती वाक्** रूप में ग्राह्य है।

अव्यक्तात्मक वाग्त्रय में तृतीय वाक् अन्तर्मुखी, भौतिक कर्णविवरों द्वारा अश्रव्य है तथापि अनुभवगम्य एवं गुह्यस्थित व बिना स्वर, ध्वनि एवं घोष के होते हुए भी स्वर और व्यंजन से परिपूर्ण शब्द राशि जिससे प्रादूर्भूत होती है वही तो मध्यमा वाक् है। इस कथन में औचित्य है कि अन्तःकरण चतुष्टय द्वारा यत्किंच चिन्तन चलता है वह मध्यमा वाक् के अन्तर्गत है। जिस प्रकार यह जड़भूता प्रकृति व्यक्ताव्यक्तात्मक भेदद्वय में प्रसिद्ध है, तथैव यह मध्यमा वाक् भी व्यक्ताव्यक्त भेदद्वय में विभाजित है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपनी अव्यक्त सूक्ष्मावस्था से अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर परमाणु रूप में अवस्थित रहती है उसी प्रकार वाक्तत्व भी सूक्ष्म व अव्यक्त परमाणुगत हुआ अन्तरिक्ष में व्याप्त होता है। जब प्रकृति या वाक् अपनी अव्यक्तात्मक कारणवस्था को त्यागकर व्यक्तात्मक कार्यावस्था में परिणत हो जाती है तो क्रिया होती है, उस स्थिति में प्रकृति या वाक् न तो व्यक्तभूता और न अव्यक्तभूता, अपितु वह अवस्था मध्यमा है।

अन्तकरण में जनित ध्वनि व्यापार उच्चारण की ओर प्रेरित करने वाली यह मध्यमा वाक् वैखरी वाक् की जन्मदात्री है। चूंकि संकल्प विकल्प मन का व्यापार है, संकल्प विकल्पात्मक व्यापार का मूर्तरूप ही वाक् उच्चारण या **"वैखरी"** रूप है।[33] तुरीय नाम से विख्यात यह बैखरी वाक् प्रयत्नज्ञेया है अर्थात् कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका, कण्ठतालु कण्ठोष्ठ, दन्तोष्ठ आदिस्थानों के माध्यम से प्रयत्नसाध्य होने के फलस्वरूप यह चारों दिशाओं में बिखर जाती या प्रसार को प्राप्त हो जाती है, इस कारण से यह बैखरी वाक् है। वस्तुतः परा वाक् ही पश्यन्ती मध्यमा रूपी यात्रा-पड़ावों में विकृत होते-होते बैखरी रूप ले लेती है।

वाक् विस्तार क्रम में पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी क्रमशः ज्ञान, अनुभूति और क्रिया की हेतु है। उक्त वाक् परिचय की दृष्टि से पश्यन्ती की अवस्था में ज्ञान, मध्यमा की अवस्था में ज्ञान का अन्तःकरण में अनुभूतीकरण तथा वैखरी अवस्था में ज्ञान-अनुभव सोपान से उदानप्राण द्वारा ध्वनि तंत्र के माध्यम से प्रेरित स्वर व व्यंजनात्मक वर्णो के रूप में मूर्त अवस्थागत होकर प्रस्फुटित एवं उच्चरित हो जाती है। मध्यमा वाक् अन्तरिक्ष एवं समस्त देवों में व्याप्त होने के कारण दैवी वाक् है। जब यह व्यक्तं वाक् होती है इसको समस्त प्राणी बोलते है तब यह तुरीय, वैखरी या व्यावहारिकी वाक् के रूप में परिणत होती है।[34]

माध्यन्दिन शतपथ में वर्णन आया है कि वाक् आत्मा की **"स्व"** या **महिमा** है[35] इसी के द्वारा एक से बहुत हो जाना[35] ही अव्यक्त से व्यक्त-प्रक्रिया है। स्फोटवाद के सिद्धान्तानुसार आत्मा वाच्य है और उसकी वाचक शक्ति नाद या ध्वनि है, जो नाना रूप धारण करके व्याकृत ध्वनि कही जाती है आत्मा प्रारम्भ में नाद या प्राकृत ध्वनि के रूप में व्यक्त होती है।[36] तदनन्तर वही शक्ति बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों के साहचर्य से नानारूप धारण कर लेती है।

जैमिनीय ब्राह्मण ने वाक् को स्थन्तर, बृहती, वैरूपा, विराट, शक्वरी और रेवती इन छै भेदों में प्रस्तुत किया है जिसमें इनके कार्य, गुणादि का विस्तार से वर्णन मिलता है।[37] जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ने तो वाक् के भेदों की सीमा का अतिक्रमण करते हुए वाक् को दशधा, शतधा, सहस्त्रधा, अयुतधा, प्रयुतधा, नियुतधा, अर्बुदधा, न्यर्बुदधा, निखर्बधा, पद्मादि कहकर आश्चर्य जनक प्रकरण प्रस्तुत किया है तथा अन्त में व्योमान्त कहा जाना इसकी परकाष्ठा को व्यक्त करता है।[38]

वेद भगवान् के बिना विश्व का कल्याण कभी नहीं हो सकता और वेद से बढ़कर सारे विश्व में कल्याण का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यह हम नहीं कर रहे हैं, बल्कि इसे तो शत वर्ष पूर्व अरबीभाषा के प्रसिद्ध एक कवि ने कविता के रूप में कही थी। जिसमें वेदों की अद्भुत महिमा का वर्णन इस प्रकार है-

अया मुबारकलम जर्जे योशेय्ये नुहामिनल्।
हिन्दे फाराद कल्ला हो मैव्यो नज्जेला जिक्रतुन्॥1॥

बहल नजल्ले पतुन् एनाने सहवी अखातुन्।
हाज ही युनज्जेलर स्लोजिकतार मिनल हिन्दुतुन्।।2।।

यक्लूनल्लाहया अहलल् अजे आलमीन कुल्लहम्।
फते निऊ तुल वेदहक्कन् मालम युनज्जे लहुन्।।3।।

वदो वालम् नुक्ष सामवल युजर निमल्लहेतन जीलन्।
फ ऐनमा अखैयो मुत्तने अस्यों वशरेपों न जातुन्।।4।।

व अस् नैन हुआ ऋक् न अतर व सदीनक अखूब्रतून्।
न अस्त्रात अला अदन ब्र होन मश अरतुन्।।5।।

अर्थात्

1. हे हिन्दुस्तान की धन्य भूमि! तु आदर करने योग्य है क्योंकि तुझमें ही ईश्वर ने सत्य-ज्ञान का प्रकाश किया।
2. ईश्वरीय ज्ञानरूपी ये चारों वेद हमारे मानसिक नेत्रों को आकर्षक और शीतल उषा की ज्योति को देते हैं? परमेश्वर ने पैगम्बरों अर्थात् ऋषियों के रूपों में इन चारों वेदों का प्रकाश किया।
3. पृथ्वी पर रहने वाली सब जातियों को ईश्वर उपदेश करता है कि मैंने वेदों में जिस ज्ञान को प्रकाशित किया है, उसे तुम अपने जीवन में क्रियान्वित करो। उसके अनुसार आचरण करो। निश्चयरूप से परमेश्वर ने वेदों का ज्ञान दिया है।
4. साम और यजुः वे खजाने है, जिन्हें परमेश्वर ने दिया है। हे मेरे भाईयों! तुम उनका आदर करो, क्योंकि वे हमे मुक्ति का समाचार देते हैं।
5. चारों वेदों में ऋक् और अतर (अथर्व.) हमें विश्व-भ्रातृत्व की ओर अपना मुख करने की शिक्षा देते हैं।

इस प्रकार, 'सर्वाधाररूपा एवं कल्याणरूपा वेद-ज्ञान के विभिन्न रूपों में विस्तार तथा निष्ठापूर्वक उसमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन के परिणाम स्वरूप सत्पुरुषों, साधुपुरुषों, महापुरुषों, आचार्यो और शास्त्रों की सम्मति प्रकट करते हुए इस सङ्क्षप्त लेख उपसंहार स्वरूप निम्नलिखित पद्य के रूप में स्पष्ट करना सटीक है:-

वेद विद्या मेटती कलंकन के अंकन को,
वेद-विद्या रंकन को रिद्धि-सिद्धि देनी है।
वेद-ज्ञान मेटता सकल जग-ताप-शाप,
वेद-विद्या पापपुंज काटन की छेनी है।।

है वेद-विद्या गंग-यमुन की तीजी बहन,
वेद-विद्या जग में सुखमय त्रिवेनी है।

वेद-विद्या धर्म, अर्थ, काम मोक्ष देती सब,
वेद-विद्या परा ब्रह्मज्ञान की नसेनी है॥

संदर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. स एष प्राणो वाचि प्रतिष्ठितो वागु प्राणे प्रतिष्ठितो वागु प्राणे प्रतिष्ठिता। तावेतावेव-मन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। जै.उ.ब्रा. 1/13/2/3
2. तदेतन्मिथुनं यद्वाक् य प्राणाश्च। वही, 3/6/3/1 तथा 4/5/5
3. वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्। मा.शा. 1/4/1/2
4. जै.उ.ब्रा., 4/8/1/1
5. वाग्वै सरस्वती। ता.ब्रा. 16/5/16
6. जै.उ.ब्रा. 2/39 सा.वि., 1/1/12, जै.उ.ब्रा. 1/2/2/2, 1/8/2/2, तथा 1/18/1/8 मा. 14/4/3/12
7. वाग्वै शवली। ता.ब्रा. 21/3/1
8. वही, सायण भाष्य।
9. वाग्वा साम्नः प्रतिष्ठा। यद्वेतद्वागित्यृगेव सा। ऋषि साम प्रतिष्ठितम्। सा.वि., 1/1/12
10. तद् यदेतद् सर्वं वाचमेवाभिसमयति तस्माद् वागेव साम। जै.उ.ब्रा. 1/13/1/6
11. जै.ब्रा. 3/326
12. (क) एकं वावेदं अग्रेऽक्षरं आसीत् वाग् एव। जै.ब्रा.ब्रा. (ख) वाग् वा अक्षरम्। वही, 1/115
13. अमृतं व्योमान्तः वाचः। बहिर्भूयः सर्वं सर्वस्मादुत्तरं ज्योतिः। ऋतं सत्यं विज्ञानं विवाचनामप्रति-वाच्यम्। पूर्व सर्वं सर्वा वाक्। जै.उ.ब्रा. 1/2/2/5
14. ऋ., 10/115/8 एवं ऐ.आ., 1/3/8
15 जै.ब्रा. 1/102, 1/115, जै.उ.ब्रा. 223/3/6, 2/5/1/2
16. वाग् उ हि रेतः 2/5/1/1, 1/5/5/7 तथा 1/7/2/21 त्रिवृद्धि रेतः। ता.ब्रा. 8/7/14
17. वाक्यपदीयम्-1/120 हरिवृत्ति से उद्धृत
18. वाक्यपदीयम्-1/1
19. काव्यादर्श-1/3
20. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
    यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। ऋग्. 10/125/5
21. वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेद विज्ञापयति यजुर्वेद सामवेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराणं पंचम वेदानां पित्र्य राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां क्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाऽऽकाशंचापश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयाँसि च तृणवनस्पतीन्श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलकं धर्मं चाधर्म च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्धै वाग्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु ना हृद्यज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति। छा.उप. 7/2/1
22. "वागेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनद्रुपासीत्। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच। वाचा वै सम्राबन्धुः प्रज्ञायते ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदाऽथर्वाग्निरस इतिहासः पुराणं

विद्या उपनिषद् श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टँ हुतमाशतिं पायितमयं च लोकः परन्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म। बृहद् उप. 4/1/2

23. वाक्यपदीयम् 1/114
24. इदमन्धन्तमः कृतस्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।। काव्यादर्श 1/4
25. वाचा वै सर्वं यज्ञं तन्वते तस्मात् सर्वा वाचं पुरुषो वदति सर्वा ह्यस्मिन् संस्तुता प्रतितिष्ठति। ता.ब्रा. 13/12/3
26. वही सायण भाष्य
27. सा.वे. (हिन्दी भाष्य) तुलसीराम (ख) वही, पबं हरिशरण सिद्धान्तालंकार (ग) ता.ब्रा. 12/3/36 (घ) वही, 15/5/6
28. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्यां वदन्ति। जै.उ.ब्रा. 1/2/7/3
29. ऋग्वेद भाष्य महर्षि दयानन्द।
30. वा.पा., 71-3
31. वाग्वै पराचि अव्याकृतवदत्तामिन्द्रो मध्यतोऽवकृष्य व्याकरोत् तस्मादियं व्याकृता वागुघते। तै.सं., 6/4/7
32. बृहस्पते प्रथमं वाचोऽग्रं यत्प्रैरत नामधेय दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।। ऋग्. 10/71/1
33. संकल्पो वाव मनसो भूयान, यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यति अथ वाचमीरयति। छा.उप., 7/4/1
34. तदेतत् तुरीयं वाचो। निरुक्तं यन्मनुष्यणा वदन्त्यैतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यद्वयांसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसर्पं वदति। मा.श., 4/1/3/16
35. वाग्वाऽय स्वो महिमा—मा.श. 4/1/3/17
36. वा.प. 1,2-3,1-78
37. जै.ब्रा., 1/1-2
38. सा दशधा भवति। शतधा सहस्रधा अयुतधा प्रयुतधा नियुतधा अर्बुदधा न्युर्बुदधा निखर्वधा पद्ममक्षितिः व्योमान्तः। जै.ब्रा. 1/9/1/3

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (53-58) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

वैदिक वाङ्मय में वसन्त ऋतुचर्या

–आचार्य डॉ. धर्मवीर वैदिक

निदेशक–गांधीयन इंस्टीट्यूट
ऑफ आयुर्वेद एंड नेचुरोपैथी, दिल्ली–110009

वसन्त शब्द की निरुक्ति–निष्पत्ति–वसन्त्यत्र मदनोत्सव आमोद आह्लाद आदयो वा, यदा वासयति सुखपूर्वकमिति वसन्तः वस निवासे (भ्वादि परस्मै. सेट्) इति धातोः 'तृभूवहिवसि भासिसाधिगडिमण्डि जिनन्दिभ्यश्च' (उणादि, 3–128) इति ऋच् प्रत्यये, झस्य च 'झोऽन्तः' (पाणिनि 7:1:3) इति 'अन्त' आदेशे वसन्तः 'इति रूपम्'। यो वसति यत्र वा स वसन्तः ऋतुभेदो वा।

वसन्त ऋतुचर्या की दृष्टि से चैत्र–बैशाख दो मास माने जाते हैं, परन्तु दोष संशोधन की दृष्टि से फाल्गुन–चैत्र ये दो मास (च.सू. 6/4) अनुसार हैं।

यजुर्वेद अनुसार–'मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावा पृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीइमे। वासन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाइन्द्रमिव देवाअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्।।' (यजुर्वेद 13:25) इस मंत्र में वसन्त ऋतु के मधुमाधव अर्थात् चैत्र–वैशाख ये दो मास बताये गये हैं।

वेदों में वसन्त ऋतुचर्या वर्णन

वसन्तेनऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः।
रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः॥ यजु. 21:23

हे मनुष्यो! (स्तुताः देवाः) प्रशंसित एवं दिव्यगुणी जो (वसवः) पच्चीस वर्ष तक के ब्रह्मचर्य वाले प्रथम कक्षा के लोग या पृथिवी–वायु–अग्नि–अन्तरिक्ष–द्यौ–आदित्य–चन्द्रमा–नक्षत्र ये अष्टविध 'वसु' तत्व कहलाते हैं। (त्रिवृता) तीनों कालों में विद्यमान या त्रिवर्ती (वसन्तेन) जिसमें सुखपूर्वक, आमोद–आह्लाद–पूर्वक वास करना सम्भव होता है उस (ऋतुना) प्राप्त होने योग्य वसन्त ऋतु के साथ उसकी ऋतुचर्या के अनुकूल व्यवहार करते हुए जो लोग (रथन्तरेण तेजसा) एवं रथन्तर तेज से युक्त रहते हुए जो लोग इस वसन्त के काल में (हविः) दान–आदान–अदन के योग्य अन्नादि को एवं उपचय–अपचय परक धातु पाक प्रक्रिया को तथा (वयः) वाञ्छित सुख को (इन्द्रे) इन्द्राधिष्ठित अपने सुव्यवस्थित शरीर में (दधुः) सुव्यवस्था पूर्वक अर्पित–निहित करते हैं और इस प्रकार वसन्त ऋतु में

त्रिविध वृत्ति के द्वारा तथा आह्लाद-आमोदमय रथन्तर तेज के द्वारा प्राप्तव्य सुखवास प्राप्त करते हैं, उनका तुम भी अनुकरण करो।

'ऋतुना' 'देवाः' 'स्तुताः' 'हविः' 'इन्द्रे' 'वयो' दधुः के साथ वसन्त=वास के योग्य वसन्त ऋतु, जिसमें शीत एवं उष्मा की उग्रता का अभाव होने तथा समशीतोष्ण वातावरण होने के कारण निवास एवं जीवन निर्वाह सुखपूर्वक आह्लाद-आमोद-पूर्वक होता है। वसवः=(1) प्रथम कक्षा वाले लोग जिनसे उत्कृष्ट लोग 'रुद्र' कहाते हैं तथा सर्वोत्कृष्ट लोग 'आदित्य', (2) पृथिवी, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, द्यौः, आदित्य या सूर्य, चन्द्रमा एवं नक्षत्र ये आठ पदार्थ 'वसु' कहाते हैं और इनका हमारे प्रति तथा हमारा इनके प्रति ज्ञान- व्यवहार आदि सुखव्रतार्थ/सुखप्राप्त्यर्थ अभिष्ट होता है। त्रिवृत्=प्राण-उदान-व्यान की त्रिविध वृत्ति अथवा भूत वर्तमान भविष्यत् ऐसा त्रिविध या शीत-उष्ण-वर्षा ऐसा त्रिविध काल में 'ब्रह्म' परमेश्वर की स्तुति का विधान वेद में किया गया है। जिसने सब भूतों, प्राणियों, प्रजाओं की सृष्टि की है तथा इस कारण जो इस विशाल विश्व का अधिपति-'ब्रह्मणस्पति' है- 'तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्।' (यजुर्वेद 14:28)। रथन्तर='रथेन तरतीति रथन्तरः', रथ-पूर्वकात् 'तृ प्लवनसंतरणयोः' इति भौवादिक धातोः 'संज्ञायाम् भृतृवृजिधारिसहितपिदमः' (अष्टा. 3.2.46) इति सूत्रेण खचि, 'रथन्तरं साम' इत्युदाहरणम्। योगरूढ़ दृष्टि से एक विशेष प्रकार के 'साम' का नाम 'रथन्तर' है। ('स्वरादिविशेषानुपूर्वीमात्र-स्वरूपे ऋगक्षरव्यतिरिक्तं यद् गानं तद्रथन्तरम्' इति सामार्चिकभाष्यम् 'वामदेव्यम् बृहत्साम ज्येष्ठसाम रथन्तरम्' तथा च-'जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद् रथन्तरे सूर्यम् पर्यपश्यत् (ऋक्. 1:164:25) इति ऋग्भाष्ये सायणः 'रथन्तरे एतन्नामके साम्नि' इत्यादि। परन्तु इसका यौगिक अर्थ है 'रथ'-'तर'-दोनों खंडों के अर्थ से इस प्रकार बनेगा-'रथ' का अर्थ शरीर होता है (आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। (कठोप. 1:3:3-4) और 'तर' शब्द तैरने का अर्थ देता है। शरीर में जब तरण के समान गौरवहीन एवं आह्लाद-आमोदमय स्थिति हो उसे 'रथन्तर' कह सकते हैं और ऐसी स्थिति 'वसन्त' के आमोदमय परिवेश में रहती है, इसीलिए वसन्त की आह्लाद-आमोदमय स्थिति का वर्णन चरक ने 'वसन्तेऽनुभवेत्स्त्रीणां काननानां च यौवनम्' (च.सू. 6:26) इस वाक्य में किया है। परन्तु इस परिस्थिति-परिवेश में डूबना या होशो-हवास को खो बैठना अभीष्ट नहीं, अपितु तैरना अभीष्ट है। इसलिए यहां 'तर' शब्द सार्थक है। तेजस्=ज्योति, तेज, वर्चस् (halo) अर्थात् वसन्त के आह्लाद-आमोदमय कामपरक परिवेश में भी अपने तेज को बनाये-बचाये रखना चाहिए।

भावार्थ

जो बुद्धिमान् प्रथम कथा वाले लोग प्राण-उदान-व्यान इन की तीन वृत्तियों के साथ एवं रथन्तर अर्थात् आह्लाद-आमोदमय तेज के साथ समुचित व्यवहार करते हुए वास योग्य-

प्राप्तव्य वसन्त ऋतु में अन्नादि की समुचित (ऋतुसात्म्य) हवि शरीर को अर्पित करते हैं उन्हें वसन्तोचित बल-सुख एवं आनन्द प्राप्त होता है और सबको उनका अनुकरण करना चाहिए।

चरक संहिता में वसन्त ऋतुचर्या इस प्रकार बताई गई है :-

'वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निम् बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥

तस्माद् वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्।
गुर्वम्लस्निग्धमधुरं दिवास्वप्नं च वर्जयेत्॥

व्यायामोद्वर्त्तनं धूमं कवलग्रहमञ्जनम्।
सुखाम्बुना शौचविधिं शीलयेत् कुसुमागमे॥

चन्दनागुरुदिग्धाङ्गो यवगोधूमभोजनः।
शारभं शाशमैणेयम् मांसं लावकपिञ्जलम्॥

भक्षेयन्निर्गदं सीधु पिबेन्माध्वीकमेव वा।
वसन्तेऽनुभवेत् स्त्रीणां काननानां च यौवनम्॥(चरक सू. 6/22 से 26)

शीत में संचित कफ वसन्त ऋतु में सूर्य की प्रखर किरणों से द्रवित होकर देहाग्नि को मन्द कर देता है और फलस्वरूप अग्नि मन्दता के कारण बाद में बहुत से रोगों को उत्पन्न कर देता है। इसलिए वसन्त ऋतु में (कफ शोधनार्थ) वमन आदि पंचकर्म कराने चाहिए और गुरु-अम्ल-स्निग्ध-मधुर-द्रव्यों का एवं दिवास्वप्न का त्याग करना चाहिए। वसन्त काल में वृक्ष-लताओं में फूल खिलने के दिनों में यह उचित है कि व्यायाम-उबटन-धूम्रपान-कवलग्रह-नेत्राञ्जन तथा मल-मूत्र-त्याग के बाद सुखोष्ण जल को नियम बनाकर प्रयोग करें, चन्दन-अगर आदि का शरीर पर लेप करें, 'शरभ'-मृग का, खरगोश का, एण-हरिण का लावक (बटेर) का कपिञ्जल (काठफोड़ा) का मांस खायें। मांस आहार करने वालों के लिए लघु मांस और निर्दोष सीधु एवं माध्वीक का पान करें। वसन्त में युवती स्त्रियों एवं पुष्पित वन उपवनों के यौवन का अनुभव करना चाहिये।

वसन्त ऋतु (Spring Season) की ऋतुचर्या विधि-निषेध आदि का वर्णन किया गया है। ग्रीष्म ऋतु में आदान-काल चरम सीमा में पहुंचता है और उसका आरम्भ शिशिर ऋतु से शुरू होता है परन्तु उसका मध्य वसन्त ऋतु में होता है। फलतः वसन्त काल वस्तुतः सर्दी एवं गर्मी का सन्धिकाल होता है। सर्दी की उग्रता तो वसन्त के प्रारम्भ से ही समाप्त हो जाती है तथा गर्मी अभी कुछ दूर पर होती है। बल्कि हल्का सुखद मौसम वसन्त में होता है। चरमशीत एवं चरमग्रीष्म के बीच स्थित वसन्त का काल सुखद एवं सुसह होता है, तब न तो बहुत भारी गरम वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है ना ही वस्त्र त्याग की, बन्द पर्दो, खिड़की दरवाजों वाले यान-शयन-आसन की अनिवार्यता नहीं रहती। खुले में घूमने-फिरने के लिए अनुकूल स्थिति होती है, वृक्ष-वनस्पति, लता-वितान भी शीत की विभीषिका से

मुक्त होकर पल्लवित-पुष्पित-विकसित-प्रमुदित होते हैं। अमर कोष में आया है वसन्ते पुष्पमयः सुरभिः। इसलिए वसन्त को ऋतुराज कहा है।

अन्य प्रमुख आयुर्वेद ग्रन्थों में वसन्त ऋतु का वर्णन :-

सिद्धविद्याधर वधू चरणालक्तकाङ्किते।
मलये चन्दन लता परिष्वङ्गाधिवासिते॥

वाति कामिजनानन्द जननोऽनङ्गदीपनः।
दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः॥ सु.सू. 6/25-26

सुश्रुत ने चरक की अपेक्षा निम्न बातें विशेष बताई हैं :-

1) वसन्त में 'दक्षिण' वायु मलयानिल बहती है जो समशीतोष्ण सुरभित होने के कारण कामोद्दीपक होती है।

2) वृक्ष-लताओं में पल्लव-किसलय आ जाते हैं जो प्रकृति के शृंगार दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

3) वनों-उपवनों में एवं जलाशयों में ढ़ाक-मौलसिरी आम-अशोक आदि के सुन्दर-सुगन्धित फूल खिलते हैं जो सुगन्धि के अतिरिक्त आह्लाद वातावरण प्रस्तुत करते हैं।

4) कोयल की 'कुहुक' तथा भौरों के गुञ्जन स्वर आनन्दपूर्ण संगीत का समा बांधते हैं।

सुश्रुत के उत्तर तन्त्र 64:32-40 में निम्न ऋतुचर्या बताई है :-

1) वसन्त में शीत नहीं रहता या अल्प ही होता है, अतः उस काल को यहां 'हिमात्यय' भी कहा गया है।

2) कफ निकालने के वमनकर्म के अतिरिक्त शिरोविरेचन एवं निरुह, कवलग्रह की भी गणना की गई है।

3) त्याज्य आहारविहारों में लवण को भी लिया गया है।

4) सेवनीय आहार-विहारों में षष्टिकान्त-यव-मुद्ग-नीवार-कोद्रव-पटोल-निम्ब-वार्ताक-तिक्तद्रव्य-मध्वासव-अरिष्ट-माधव-तीक्ष्ण-रूक्ष-क्षार-कटु-कषाय-मधु-कुशती-मार्गगमन -पिकनिक-पत्थर फेंकना आदि का भी निर्देश किया गया है।

5) आहार कोष्ण एवं अद्रव्य बताया गया है।

6) सुखोष्ण जल का उपयोग सभी कार्यों के लिए विहित किया है।

अष्टांगसंग्रहकार - वाग्भट्ट महर्षि ने निम्न प्रकार वर्णन किया है :-

'कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तेऽर्कांशुतापितः।
हत्वाऽग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत्॥ (अ.सं.सू. 3/18)

इस ऋतुचर्या वर्णन में निम्न विशेषता बताई गई है :-

1) कफ संशोधनार्थ वमन के अतिरिक्त नस्यकर्म का एवं लघु-रूक्ष-भोजनों का तथा व्यायाम-उद्वर्त्तन-पदाघात का भी निर्देश दिया है।

2) लेपनार्थ चन्दन एवं अगर के अतिरिक्त कपूर एवं केसर को भी विहित किया है।

3) सेवनीय यव-गोधूम का पुराना होना जरूरी बताया गया है।

4) सेवनीय आहार-विहारों में क्षौद्र-जांगल शूल्य मांस-आसवारिष्ट-माधव-शुण्ठी क्वाथ जल-असनजल-मधुयुक्त जल-मुस्ताक्वाथ जल आदि को भी गिनाया है।

5) निषिद्ध द्रव्यादि में 'शीत' की भी गणना की है।

6) सेवनीय आसव-अरिष्ट आदि में आम का रस मिलाने का विधान किया है।

7) सेवनीय आसव-अरिष्ट आदि की मादकता एवं कामोद्दीपकता को बढ़ाने के लिए पान की प्रत्येक क्रिया के साथ प्रिया-प्रेमिका-भार्या का सम्पर्क विहित किया गया है।

8) सेवनीय आसव-अरिष्ट आदि का अपने रंग-सुगंध-रस-क्रिया-प्रभाव आदि के द्वारा मन प्रसादक एवं हृद्य होना आवश्यक बताया है।

9) सेवनीय आसव-अरिष्ट आदि के पान से आह्लाद-आमोद की वृद्धि के लिए समवयस्क-समगुण-समस्वभाव मित्रों के साथ पानगोष्ठी रचाने का निर्देश किया है।

10) मध्याह्न काल को सुख-आह्लाद-आमोद के वातावरण में आनन्दपूर्वक बिताने के लिए कोयल की मीठी 'कुहक' से गुंजने वाले, नानावर्ण-सुगन्धित-पुष्पों-वृक्षों-लताओं से सुरभित, कामोद्दीपक वन-उपवन-कुंज-लतागृह-पार्क आदि में या झील-नदी द्वीप-निर्झर आदि के समीप या अन्तरीप में या संगमर्मरी मणिमण्डित भवनों में या नौका में हास-परिहास का निर्देश दिया है।

वसन्त ऋतुचर्या तालिका

ऋतुमास	–	चैत्र बैशाख	अयनगति	–	उत्तरायण मध्य
काल	–	आदान मध्य	राशियां	–	मीन-मेष
सूर्यबल	–	मध्य 'आताम्रकिरणो रविः'	वायु	–	सूर्य-सहकारी, तीव्र रूक्ष, दक्षिण दिशा से आगत कामोद्दीपक मलयानिल
चन्द्रमा	–	व्याहतबल (मध्यमात्रया)			
देहाग्नि	–	श्लेष्माहत मन्द	शरीर बल	–	मध्यक्षीण
दोष	–	कफ प्रकुपित	रस (वृद्ध)	–	कषाय विशेष प्रवृद्ध, शेष सानुपात

रस सेव्य	–	तिक्त, कटु, कषाय	रस असेव्य	–	मधुर, अम्ल, लवण
गुण असेव्य	–	गुरु स्निग्ध, शीत, द्रव	गुण सेव्य	–	लघु, रूक्ष, अद्रव, कोष्ण
मधु	–	सेव्य	दूध	–	सेव्य
शूकधान्य सेव्य	–	पुराने जौ, गेहूं, नीवार, कोद्रव	ओदन	–	षष्टिक (सांठी चावल)
शाक सेव्य	–	पटोल, वार्ताक, निम्ब, तिक्तशाक	शमी धान्य	–	मुद्ग
सुरा	–	प्रसन्न, सीधु माध्वीक मध्वासव, आसवारिष्ट	फल	–	संतरा, मौसमी, अमरूद, बेर, अंगूर, लोकाट, शहतूत आदि
स्नेह	–	घृत, तैल, वसा, मज्जा कम मात्रा में	उद्मन्थ	–	असेव्य
पानक	–	असेव्य	अन्य आहार	–	क्षार, रूक्ष, कोष्ण, कफहर
जल स्नान	–	सुखाम्बु	जल	–	वर्षाम्बु, शृंगवेराम्बु, साराम्बु, मध्वम्बु, मुस्ताम्बु
उद्वर्त्तन	–	सेव्य	अभ्यङ्ग	–	नहीं
			व्यायाम	–	कुश्ती, सैर, शिलानिर्घातन, अध्वगमन-प्रभृति
अञ्जन	–	सेव्य तीक्ष्ण	धूम	–	नाति गुरु, नाति ऊष्ण, ऊनी-सूती मिश्रित
लेप	–	चन्दन, अगुरु, कुङ्कुम, कर्पूर	नस्य	–	सेव्य-तीक्ष्ण
गृह ऋत्वनुकूल	–	दक्षिण वायु शीतेषु अदृष्टनसूर्येषु मणि आदि से सुसज्जित, दोपहर में सुखी	मैथुन	–	अल्प सेव्य
			गण्डूष सेव्य	–	कवलग्रह, गण्डूष (तीक्ष्ण)
दिवास्वप्न	–	असेव्य-वर्ज्य	गृह	–	समशीतोष्णगृह
गन्धमालादि	–	सेव्य	प्रवात	–	असेव्य
सेव्य	–	ब्राह्म रसायन, आमलकी रसायन, कुष्माण्डावलेह, महर्षि-अमृतकलश, द्राक्षासव अंगूरासव, मध्वासव, लक्ष्मीविलासअवलेह आदि			

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (59-63) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

शिव संकल्प से अनुप्रेरित वैदिक मनः प्रबन्धन

–डॉ. अनीता जैन
एसोसिएट प्रोफेसर
संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग
राजस्थान–304022

वर्तमान युग मानसिक समस्याओं का युग है। व्यक्ति मन की समस्या से संत्रस्त बना हुआ है। सम्यक् शारीरिक व मानसिक सामंजस्य के अभाव में मानव बहुत से विषम मनोविकारों से ग्रसित है। अवसाद, तनाव, चिंता उद्वेगादि विकार न केवल चिकित्सकों अपितु मनोवैज्ञानिकों एवं चिन्तकों के लिए भी चुतौती रूप हैं। विचारणीय प्रश्न है कि आखिर इन मनोविकारों का मूल कारण क्या है?

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मैत्रायणी उपनिषद्[1] के उक्त कथनानुसार 'मन' ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है।

अवसादग्रस्त सभी मनुष्य मनोविकारों से मुक्ति चाहते हैं। परन्तु मन के स्वरूप उसके कर्तृत्व एवं अस्तित्व को समझे बिना समस्याओं का निदान संभव नहीं है।

मनुष्य के समग्र शारीरिक व्यापार को सुचारू रूप से संचालित करने वाली एकादश इन्द्रिय संघात में 'मन' सर्वोपरि है। क्योंकि शेष सभी इन्द्रियाँ मन के आदेश से ही अपने अपने व्यापारों में संलग्न होती हैं। श्रुति भी इसे इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाशक अथवा प्रवर्तक मानती है[2]। अथर्ववेद में भी मन को दश इन्द्रियों से श्रेष्ठ एकादश इन्द्रिय के रूप में अथवा इनसे पृथक् एक विशिष्ट इन्द्रिय के रूप में माना गया है[3]। अथर्ववेद (10.2.19) में 'केनास्मिन् निहितं मनः' उक्ति के माध्यम से वस्तुतः इसके वैशिष्ट्य की ओर संकेत किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार काम संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय–ये सब मन ही हैं। इसी सन्दर्भ की पुष्टि में शतपथब्राह्मण में निर्देश मिलता है–**"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा-अश्रद्धा-धृतिरधृति ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मन एव"**।

सृष्टि संकल्प का अभिधान परब्रह्म का मन ही है। सृष्टि संकल्प से सकाम हुए विराट् पुरुष प्रजापति के अन्तस्तल में प्रथम आर्विभूत 'रेतस्' भाव अन्य कुछ नहीं उसका 'मनोभाव' ही था। **'स प्रजापतिरकामयत्'** शतपथब्राह्मण के उक्त कथनानुसार उस प्रजापति में संकल्प के साथ ही कामना (मनस्) का उदय हुआ। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक

वाङ्मय के अनुसार इस समस्त सृष्टिरूपी यज्ञ में मन ही ब्रह्मा है, वही इस सृष्टिचक्र का निर्देशक है।

'मन' ज्ञान एवं कर्म का साधन है, अतः उसे 'दक्ष' अर्थात् ज्ञानयुक्त तथा 'क्रतु' अर्थात् क्रियाशील कहा गया है। मन ज्ञेय वस्तुओं को ग्रहण करता है, अतः ज्ञान का साधन है। वह उस ज्ञान के आधार पर कार्य करने की प्रेरणा देता है अतः वह प्रेरणा स्रोत है। इसकी प्रेरणा से ही मनुष्य पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के कार्य सम्पन्न करता है।[4]

शतपथब्राह्मण के अनुसार मन में ही आत्मा की प्रतिष्ठा है[5]। यजुर्वेद[6] के अनुसार मन ज्ञान, स्मृति एवं धारणा शक्ति का साधन है।

यजुर्वेद के 34वें अध्याय में **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** वाले 6 मंत्रों में मन के सभी महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख है। मन जाग्रतावस्था में क्षणमात्र में अति दूर गमन कर सकता है तथा दूसरे ही क्षण प्रत्यागमन भी कर सकता है। यह दूरगामी शक्तियों में सर्वशक्तिमान् है। मन के द्वारा ही भूत, वर्तमान एवं भविष्य सब कुछ सम्यक् रूपेण ज्ञात किया जाता है। तथा मन के द्वारा ही सभी प्रकार के यज्ञ आदि सम्पन्न किये जाते हैं। मन ही सप्त होता से युक्त यज्ञ का विस्तार करता है जिस प्रकार रथ की नाभि में तीलियां प्रतिष्ठित होती हैं उसी प्रकार ऋक्, यजुष् एवं साम मन के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित होते हैं जिस प्रकार चतुर सारथी लगाम के द्वारा घोड़ों को नियन्त्रित करता है उसी प्रकार मन मनुष्यों को नियन्त्रित करता है[7]।

स्वस्थ, शान्त और निष्कल्मष मन में दूषित भावों की संभावना नहीं होती। परन्तु यदि मन अशान्त और चंचल हो तो नाना प्रकार के मानसिक रोगों की संभावना बनी रहती है। वृत्तियों के कारण मन में चंचलता उत्पन्न होती है। चंचलता मन का सबसे बड़ा स्वभाव है यह किसी एक विषय पर केन्द्रित नहीं रहता। बार बार एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय की ओर दौड़ता है इसी तथ्य को अनुभव करके गीता[8] में महारथी अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण से कहा था–

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

यदि मन अशान्त अथवा चंचल हो तो नाना प्रकार के रोगों की संभावना बनी रहती हैं। मन में मानसिक विकारों से उत्पन्न मानस दोष रजोगुण और तमोगुण के कारण होते हैं। और मन दूषित होने के कारण ही काम, क्रोध, ईर्ष्या, मोह, मद, शोक, चिन्ता, हर्ष, भय, विषादादि अनेक विकारों का जन्म होता है[9]। विकारयुक्त इस रथरूप देह को उच्चमार्ग पर प्रवृत्त कराने हेतु मनः प्रबन्धन की आवश्यकता होती है।

पवित्र मन से ही शुभ विचारों का उद्भव होता है, और शुभ विचारों से ही पापों का शमन होता है। इस बात की पुष्टि यजुर्वेद[10] के – **"भद्रा उत प्रशस्तयो भद्रं मनः**

कृणष्व वृत्रतूर्ये। येना समत्सु सासहः।"..... मन्त्र से भी होती है। अक्षय सुख हेतु 'मनोनिग्रह' की आवश्यकता पर बल देते हुये ऋग्वेद[11] में भी कहा गया है कि–जो तुम्हारा मन भूतकाल की बातें सोचता हुआ और भविष्य की चिन्ता करता हुआ बहुत दूर तक चला गया है। यदि तुम अक्षय सुख चाहते हो तो उस चंचल मन को लौटाकर एक स्थान पर केन्द्रित करो।

मनीषियों के चिन्तनानुसार 'मनोनिग्रह' संजीवनी शक्ति के समान मानव जीवन का विकास करता है। अतः स्थान-स्थान पर वैदिक ऋषि मृत्युंजय हेतु मनः शुद्धि या उत्तम चित्त प्राप्ति की कामना करता है[12]।

मनः प्रबन्धन के उपाय

मन की चंचलता को विराम देने के लिए आवश्यक है कि जीवन का एक लक्ष्य निर्दिष्ट कर उसी के अनुरूप सद्विचारों और उदात्त भावनाओं के चिन्तन में मन को एकाग्र किया जाये। ऋग्वेद[13] में भी यह कहा गया है कि व्यक्ति के मन को नियन्त्रित करने के लिए अपने विचारों में 'एकाग्रता' कायम करने का प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् मन में एक समय में एक ही विचार आने देना चाहिये। भूत, भविष्य अथवा वर्तमान को भी किसी दूसरी समस्या को भी मन में नहीं आने देना चाहिये। यजुर्वेद की शिव संकल्प सूक्त का एकाग्र मन से विधि पूर्वक पाठ करने से मन में सद्विचार स्वतः ही आ जाते हैं। इसी से मन में आत्म बल उत्पन्न होता है और रोग स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।

मनोबल की न्यूनता ही नैराश्यादि अनेक रोगों की जननी होती है। अतः मनोबल की संवृद्धि आचार विचारों की निर्मलता व पवित्रता भी आवश्यक है[14]। क्योंकि पवित्र विचारों से दिव्य शक्तियों का विकास होता है। आत्म साक्षात्कार के हेतु विचार शिव संकल्प और सात्विक प्रेरणाएं दैवीय गुण हैं। इसके विपरीत काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्यादि राक्षसी तत्व हैं। दैवीय गुण मनुष्य के कल्याण मार्ग के हेतु हैं जबकि तामसिक तत्व मनुष्य का अधःपतन करते है[15]।

एकाग्रता के साथ ही साधना द्वारा भी मन की चुंबकीय शक्ति को विकसित किया जा सकता है[16]।

'ध्यान' मनः प्रबन्धन का सबसे सशक्त हेतु है। मन की मूलतः दो अवस्थायें मानी जाती हैं–गत्यात्मक और स्थिर। गत्यात्मक अवस्था में मन चंचल होता है। स्थिर अवस्था ही वस्तुतः ध्यान की अवस्था है। ध्यान के आरम्भ में मन को एक आलम्बन पर केन्द्रित किया जाना चाहिये। ध्यान से ही मन का समाधान होता है। **'ध्यानं वाव चित्ताद भूयः'** छान्दोग्य–उपनिषद् के उक्त कथनानुसार ध्यान से समस्त पाप नष्ट होते है व समस्त मनोरथों की सिद्धि होती है। स्थिर मन वाले योगीजन 'ध्यान' द्वारा ही परमात्मसाक्षात्कार करते हुए परमानन्द एवं मानसिक शान्ति को प्राप्त करते हैं[17]।

"अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः" उक्त कथनानुसार अभ्यास एवं वैराग्य ही मनः प्रबन्धन (मनोनिग्रह) का सशक्त हेतु है। गीता में भी कहा गया है–

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते[18]॥"

मन को बार-बार ध्येय में लगाने को अभ्यास कहते हैं। निरन्तर अभ्यास से इसमें दृढ़ता आती हैं अभ्यास की सहायता के लिए वैराग्य की आवश्यकता होती है। स्व-अस्तित्व के प्रति राग होना अथवा आत्मज्ञान की निर्मलता ही वैराग्य है विद्वानों अर्थात् विद्वज्जनों के सान्निध्य से वैराग्य भाव पुष्ट होता है[19]। भक्त व भगवान् के पारस्परिक सहयोग से ही मन पर विजय संभव है[20]।

अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं **"एकै साधै सब सधै"** उक्त कथनानुसार यदि व्यक्ति इस मन को स्थिर कर ले तो वह अकेला ही बाहर व भीतर के समस्त शत्रुओं को जीतने में समर्थ हो सकता है[21]।

अन्त में मैं यही कहना चाहूँगी कि **मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।"** अतः सम्प्रति वैदिक वाङ्मय के समक्ष यही चुनौती है कि वह विश्वकल्याण हेतु सुसंस्कृत मानव का सृजन करे। यह तभी संभव है जब प्रत्येक मानव मन शिवसंकल्प से अभिषिक्त व अभिप्रेरित होकर कार्य करे[22]।

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी

1. मैत्रायणी उपनिषद् 4.11
2. दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं.....तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजुर्वेद 34.1
3. अथर्ववेद 5.15.1, 5.16.11
4. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। ऋ. 10.25.1
5. मनसि हि अयमात्मा प्रतिष्ठितः। श.ब्रा. 6.8.1.21
6. यजुर्वेद- 34.3-4
7. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
   दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।1।।
   येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
   यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।2।।
   यत्प्रज्ञानमुतं चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
   यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।3।।
   येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
   येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।4।।
   यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता स्थनाभाविवाराः।
   यस्मिश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।5।।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृतप्रतिष्ठ यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।6।। यजु-34.1-6

8. गीता - 6.34
9. रजसतमश्च मानसौ दोषौ। चरक, विमानस्थान-5
10. यजु-15.39
11. यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम्।
    तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।
    यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।
    तत् आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे। ऋ. 10.58.11-12
12. यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्।
    जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्टतातये। ऋ. 10.60.10
13. ऋग्वेद 10.58.11
14. अथर्ववेद 19.9.4
15. यजुर्वेद 15.39
16. अथर्व. 6.94.2
17. अभि ते मधुना पयोथर्वाणो अशिश्रयुः। देवं देवाय देवयु।। सामवेद-652
18. गीता-6.35
19. ऋ.-6.52.5
20. भद्र मानः कृणुष्व वृत्रतूर्ये .....अभिष्टये। सामवेद-1560
21. स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्रवेषीदेको युधये भूयसश्चित्। ऋ.-5.30.4
22. समानो मन्त्रः समितिः समानी..... समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋ. 10. 191-3-4

✦✦✦

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट। -अथर्व. 2.36.3
हे प्रभु! यह नारी पति को प्राप्त करे।

सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति। -अथर्व. 2.36.3
पुत्रों की जननी बनती हुई यह घर में रानी होकर रहे।

गत्वा पतिं सुभगा विराजतु। -अथर्व. 2.36.3
पतिगृह में जाकर सदा सौभाग्यवती बनी रहे।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (64-68) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

वैदिक सौन्दर्य तत्त्व

(वेदर्षि डॉ. फतहसिंह की दृष्टि में)

–डॉ. प्रतिभा शुक्ला
एसोसिएट प्रोफेसर
उत्तराखण्ड संस्कृत वि.वि., हरिद्वार

'सौन्दर्य' शब्द से क्या अभिप्राय है? सुन्दर का जो भाव है वही सौन्दर्य है। सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से प्राप्त होती है–

'सुष्ठु उन्नत्ति आर्द्रीकरोति चित्तमिति सुन्दरः' अर्थात् जो चित्त को आर्द्र बना दे, वह सुन्दर है[1]। इसी प्रकार 'सु+नन्द+र' सुन्दर की व्युत्पत्ति मानी गयी है जिसके अनुसार अर्थ होगा प्रसन्न करने वाला[2]। अमरकोश के अनुसार सुन्दर के पर्यायवाची रुचिर, चारु, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, मनोज्ञ, मंजु, मंजुल आदि शब्द दिये गय हैं।[3] शब्दकल्पद्रुम[4] के अनुसार मनोहारि, सौम्य, भद्रक, रमणीय, बन्धुर, पेशल, अभिराम, नन्दित, सुमन, वल्गु, हारि, अभिरूप, दिव्य आदि आदि शब्द सुन्दर के पर्यायवाची हैं।

उक्त व्युत्पत्तियों के तात्त्विक विवेचन से स्पष्ट है कि चित्त को आनन्द की अनुभूति प्रदान करने वाला पदार्थ सुन्दर कहलाता है। अतः सौन्दर्य का अस्तित्त्व केवल व्यक्ति या वस्तु के सन्दर्भ में मूल्यांकित नहीं हो सकता अपितु उसके लिए व्यक्ति और वस्तु दोनों की अनिवार्यता है।

भारतीय परम्परा में सौन्दर्य विशदरूपेण विवेचित हुआ है। भारतीय ग्रन्थों में सौन्दर्य बहुआयामी एवं सूक्ष्म तत्त्व है। वेद का ऋषि सविता देव में सत्य, शिव और सुन्दर की प्रतिष्ठा देखता है[5] साथ ही सौन्दर्य को परम सत्ता का सहज गुण मानता है।[6] ब्रह्म का पर्याय आनन्द है और सौन्दर्य आनन्द का मूर्त बिम्ब है। इस दृश्यमान जगत् में विद्यमान सौन्दर्य को परम सत्ता के दिव्य तेज का अंश माना गया है–

यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्।।[7]

वेदर्षि डॉ. फतहसिंह[8] अपनी पुस्तक भारतीय-सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका में लिखते हैं–"वेद में सौन्दर्यतत्त्व को स्वस्ति की संज्ञा दी गयी है। अतः वेद में मानवजीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वस्तिमान होना है[9]"। 'स्वस्ति' शब्द 'सु' और 'अस्ति' के योग से बना है। 'सु' का अर्थ सुन्दर और 'अस्ति' सत्ता का द्योतक है। स्वस्ति का अर्थ 'सत्य सुन्दर या सुन्दर

सत्य'। साधारणतया हम अस्ति का प्रयोग वर्तमान 'सत्ता' के लिए करते हैं परन्तु जो वर्तमान में है (अस्ति) वह अतीत में थी (आसीत्) या न होगी (न वा भविष्यति), अतः इसको केवल खण्ड सत्य ही कह सकते हैं और मानव-मन द्वारा इसी को जानने का प्रयत्न किया जा सकता है। अखण्ड सत्य तो एक है जो खण्डशः अनेक नामों से जाना जाता है[10]। परन्तु अखण्ड रूप में भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान की खण्ड-परिधियों से बाहर होने के कारण वह मन द्वारा[11] सर्वथा अप्राप्य है। स्वस्ति अपने अव्यक्त और अखण्ड रूप में उत्तम ज्योति देव[12] है जिस तक हम एक अन्य उत्तर ज्योति को देखते-देखते पहुँचते हैं; यही हमारे व्यक्तित्व का सूक्ष्मतम स्तर तथा सवितृ का श्रेष्ठ वरेण्य भाग[13] जिसे उपनिषद् में आनन्दमय तथा ऋग्वेद और अथर्ववेद में हिरण्यय पुरुष कहा गया है।"

डॉ. साहब ने श्रोत्र-ग्राह्य सौन्दर्य, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा ग्राह्य सौन्दर्य की सशक्त समीक्षा की है। काव्यसौन्दर्य के विषय में कहा गया है कि 'कालिदास आदि कवियों के काव्य में हमें जिस सौन्दर्य की प्रतीति होती है वह चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा से ग्राह्य सौन्दर्य तो नहीं है परन्तु तत्वतः वह उससे भिन्न भी नहीं है क्योंकि विश्लेषण करने पर काव्य जिन मानस प्रत्ययों अथवा चित्रों के माध्यम से सहृदय-पाठक को सौन्दर्यानुभूति प्रदान करता है, वे चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा द्वारा प्रदत्त रूप, शब्द, रस, गन्ध एवं स्पर्श के मानस प्रत्यय अथवा चित्र ही तो प्रतीत होते हैं।'[15]

किसी वस्तु को सुन्दर क्यों कहा जाता है इस प्रश्न के उत्तर में वेदर्षि सौन्दर्य और अर्थ विज्ञान पर चर्चा करते हुए कहते हैं-'जब आप किसी सुन्दर संगीत से प्रभावित होकर सचमुच झूमने लगें या जब आप किसी सुन्दर दृश्य को देखकर उछल पड़ें, उस समय यदि आप अपनी आँखों और कानों को बन्द करके एकाग्रचित्त होकर बैठ जायें तो आपको एक ध्वनि सुनाई पड़ेगी, जिसको 'सु' या 'सुम्' 'हु' या 'हुम्' तथा 'उ' या 'उम्' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसीलिए जो वस्तुएं हमें प्रिय होती हैं उनके नाम के आगे हम 'सु' लगा देते हैं[16]।'

'सूफी लोग ध्यानावस्था में सुनी जाने वाली एक ध्वनि को 'हु-हु' की आवाज़ कहते हैं। फारसी में 'हु' से निकले हुए 'हुमा' 'होम' आदि शब्द अत्यंत प्रिय पदार्थों के नाम हैं। संस्कृत में 'उ' शिव और ब्रह्मा का नाम होने के अतिरिक्त चन्द्रमण्डल का भी द्योतक है तथा 'उम्' अन्य अर्थों के साथ शान्ति तथा नम्रता का सूचक है और 'उम्' से निष्पन्न उमा, उमः, ओम्, ओमन् आदि शब्द आनन्दकारी पदार्थों के नाम हैं।'

सौन्दर्य और अर्थविज्ञान का विश्लेषण करते हुए डॉ. साहब ने बताया है कि 'संस्कृत और फारसी में क्रमशः सोम तथा होम तो परम आनन्ददायक दिव्य पेय के ही नाम हैं और संस्कृत में ओम् तो आनन्दस्वरूप परमात्मा का ही द्योतक है।' जिस वस्तु के साथ सुम् नामक आनन्दानुभूति होती थी उसको सुन्दर कहा जाता था (सुम् देने वाले सामर्थ्य से युक्त)।

सौन्दर्य का निरूपण करते हुए सम्मान्य लेखक का कहना है कि 'सुम्' नामक

अनुभूति (सौन्दर्यानुभूति) प्रमाता या भावुक के मन में किसी न किसी बाह्य अथवा आन्तरिक विभाव के विभावन का परिणाम है। सौन्दर्यशास्त्रियों के दो दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं– भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी। भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्रियों में श्रीमद्रूपगोस्वामी के अनुसार–'भवेत् सौन्दर्यमङ्गानां सन्निवेशो यथोचितम्'। इसी यथोचित सन्निवेश को क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य विचार चर्चा में 'उचित स्थान विन्यास' कहा है। सम्भवतः इसी दृष्टि से 'औचित्य' ही सौन्दर्य माना जा सकता है। डॉ. साहब का मानना है कि अरस्तु द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य के अंग–सम्मात्रा, व्यवस्थित क्रम तथा निश्चित आकार इसी औचित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। कुछ सौन्दर्यशास्त्री विभाव के आकार–प्रकार से आगे बढ़े हैं।

सौन्दर्य–मीमांसा में अन्य प्रकारों से भी प्रकृति का उपयोग किया गया है। ह्यूम के अनुसार प्रकृति ने विषयों (विभावों) में कुछ ऐसे गुण निहित कर दिए हैं जो हमारे मन में सौन्दर्य–भावना को जागृत करते हैं–"It must be allowed that there are certain qualities in objects which are fitted by nature to produce these particular feelings. We admire beauty for no other reason than that we are used to it."[20]

अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत वे सौन्दर्यशास्त्री हैं जिन्होंने प्रमाता और प्रमेय दर्शक और वस्तु को 'एक' में लाने का प्रयत्न किया है। शेलिंग प्रमाता एवं प्रमेय, आत्मा एवं विश्व की एकता में विश्वास करता है। उसके अनुसार अहं और इदं एक आत्यंतिक प्रज्ञा द्वारा अभिन्न रूप से एकत्व में सम्बद्ध हैं।

'शोपेनहावर' प्रमाता एवं विषय को मूलसंकल्प का परिणाम मात्र मानता है और सौन्दर्य को भी इसी संकल्प की किसी शक्ति का व्यक्तीकरण मानता है। 'हेगल' दोनों को एक ही चरम–तत्त्व का परिणाम मानता है और सौन्दर्य को इन्द्रिय–ग्राह्य अध्यात्म तत्त्व समझता है। प्लेटो के अनुसार प्रतीयमान जगत् के सौन्दर्य का मूल रूप भी चेतन (Ideal) में है जो अद्वैत तथा आत्यंतिक सौन्दर्य है, जिसमें न ह्रास है, न वृद्धि, न उदय है न अन्त अपितु जो सदा ही एकरूप रहता है।'[21]

वेदर्षि डॉ. फतहसिंह के अनुसार आधुनिक युग विज्ञान प्रधान होते हुए भी सौन्दर्य की वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय मीमांसा में असमर्थ तथा असफल ही रहा है और वैदिक साहित्य में इस एकांगीपन का सर्वथा परित्याग करके सौन्दर्य मीमांसा करने का प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है।

डॉ. फतहसिंह के विचार में सौन्दर्य के विषय में वैदिक दृष्टि का आधार अधिक स्वाभाविक है। वहाँ आनन्द, मोद, आमोद, मुद, प्रमुद, प्रिय आदि शब्दों द्वारा जिस अनुभूति की ओर संकेत किया गया है वह वस्तुतः वही आनन्दानुभूति है जिसे हम सौन्दर्यानुभूति मानते आए हैं। अथर्ववेद में उल्लिखित स्वर्ग अथवा ब्रह्मपुरी[22] उस आनन्दादि का स्रोत है जिसके विषय में अथर्ववेद 10, 2, 9 में प्रश्न किया गया है कि पुरुष आनन्दों और नन्दों को कहाँ से लाता है? इसीप्रकार ऋग्वेद के 9, 113 में उस अमृतलोक[23] का उल्लेख है जहाँ अजस्र

ज्योति के साथ-साथ आनन्द, मोद, मुद, प्रमुद, तृप्ति आदि का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

वैदिक साहित्य में आनन्द का स्वरूप वर्णित है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मनुष्य लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के आनन्द का निरूपण किया गया है–"जो मनुष्यों में सब अंगों से पूर्ण समृद्ध, दूसरों का अधिपति और मनुष्य सम्बन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्रियों में सर्वाधिक सम्पन्न होता है उसका सुख मनुष्य का परमानन्द है। इस प्रकार के सौ मनुष्यानन्द पितृगण के एक आनन्द के समान तथा पितरों के सौ आनन्द गन्धर्वों के एक आनन्द के समान हैं। गन्धर्वलोक के सौ आनन्द मिलकर कर्मदेवों के एक आनन्द की एवं कर्मदवों के सौ आनन्द आजानदेवों के एक आनन्द की समता करते हैं। आजानदेवों का सौ गुना प्रजापति लोक का आनन्द और उसका सौ गुना ब्रह्मलोक का आनन्द है। यही परमानन्द है, यही ब्रह्मलोक है।"[25]

यही आनन्दमीमांसा तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली में देखी जा सकती है।[26]

वैदिक दृष्टि में हिरण्ययकोश का परमानन्द ही मनोमय से अन्नमय तक विविध आनन्दों के रूप में व्यक्त होता है। वैदिक साहित्य के अनुसार समस्त विश्व एक ब्रह्माण्ड और मनुष्य देह रूपी पिण्ड उसी का एक लघुसंस्करण है। अतः जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी है। 'पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड के उक्त सादृश्य को देखते हुए आन्तरिक प्रकाश और बाह्य प्रकाश दोनों को एक ही नाम सोम दिया जाय विशेषकर इसलिए कि दोनों ही 'सुम्'[27] नामक सौन्दर्यानुभूति को विभावित करने की क्षमता रखते हैं।"

वेदर्षि डॉ. फतहसिंह की दृष्टि में स्वस्ति ही सौन्दर्य है। यह स्वस्ति मानों स्वयं प्रदीप्त अग्नि[28] सविता का श्रेष्ठ वरेण्य भग[29] है जहाँ से इन्द्रयुक्त अग्निशिखाएं (इन्द्रवन्तः अग्नयः) ॐ ज्योति को भरती हुई, उषा के हृदय में प्रबुद्ध होती हैं।[30] सम्पूर्ण उषाओं और सूर्य का उदय होता है[31] और जिसमें एक ऐसा 'सुभर नृपाय्यछर्दि'[32] है जिसको प्राप्त करके सम्पूर्ण मरुत्, सम्पूर्ण ऊतियाँ, सम्पूर्ण समिद्ध अग्निशिखाएं, सम्पूर्ण देव, सम्पूर्ण धन तथा सम्पूर्ण बल (बाज) हमें प्राप्त हो जाता है[33] क्योंकि स्वस्ति अपने अव्यक्त रूप में वननीय या रमणीय तत्त्व को समेटे हुए है तो दूसरे में वह श्रेष्ठा और रेक्णवती होकर विस्तृत होती है[34] यही स्वस्ति[35] राजा सोम है जो अपने व्यक्ति रूप में पूयमान परिषिच्यमान होकर इन्द्र में प्रवेश करता है।[36] स्वस्तिदा[37] इन्द्र स्वयं 'सोमपा अभयंकर' है। डॉ. साहब का कहना है कि उक्त सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति का बड़ा ही रोचक वर्णन सोमसूक्तों में यत्र-तत्र मिल जाता है।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. वाचस्पत्यम् पृ. 53, 4
2. बी.एस.आप्टे, संस्कृत हिन्दीकोश, पृ.1115
3. अमरकोश, तृतीय खण्ड, श्लोक 52-53

4. शब्दकल्पद्रुम, पृ. 373, नाग प्रकाशक, दिल्ली-7
5. ऋ. 5, 82, 87
6. ऋ. 5, 82, 6
7. भगवद्गीता 10, 41
8. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, डॉ. फतहसिंह, पृ.
9. कर्त न: स्वस्तिमत: (ऋ. 1, 90, 5)
10. ऋ. 1, 164, 1
11. ऋ. 10, 170, 1
12. ऋ. 1, 50, 10
13. ऋ. 10, 35, 7
14. भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की भूमिका, डॉ. फतहसिंह, पृ. 3-5, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
15. वही, पृ. 5
16. वही, पृ. 6
17. वही
18. वही, पृ. 7
19. औचित्य विचार-चर्चा, श्लोक 3, 6 पृ. 115, ना. 14, 68, ध्व. 3, 33 आदि।
20. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, डॉ. फतहसिंह, पृ.11 नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली
21. वही, पृ. 12-13
22. यो वै तां ब्रह्मणी वेदामृतेनावृतां पुरम्। (अथर्व. 10, 2, 29)
23. ऋ. 9, 113, 7-11
24. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, डॉ. फतहसिंह पृ. 26-27
25. वही, पृ. 26-27
26. वही, पृ. 27
27. वही पृ. 41
28. ऋ., 10, 35, 3-12
29. ऋ., 10, 35, 7
30. ऋ., 10, 35, 1
31. ऋ., 10, 35, 8
32. ऋ., 10, 35, 12
33. ऋ., 10, 35, 13
34. ऋ., 10, 63, 16
35. ऋ., 8, 48, 8
36. ऋ., 9, 97, 36
37. ऋ., 10, 116, 2; ऋ., 10, 152, 2

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (69-73) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

वेदार्थनिरूपण में ज्योतिष् का योगदान

–डॉ. प्रतिभा

सहायक प्राध्यापिका
संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

वेदार्थनिरूपण हेतु वेदाङ्गों का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। वेदों में अखिल ज्ञान विज्ञान निहित है यह सुस्पष्ट है किन्तु यह भी सत्य है कि यह ज्ञान विज्ञान वेदों में प्रायः संक्षिप्त या बीजरूप में है। अतः वेदों के विशदार्थ तथा वास्तविक तथ्य जानने हेतु अल्पज्ञ मनुष्य के लिए वेदाङ्गों का परिज्ञान अत्यावश्यक है। यास्कमुनि ने लिखा है–

'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरुप-देशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।।[1]'

अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुए, उन्होंने अपने बाद के मनुष्यों को उपदेश द्वारा वेदमन्त्र प्रदान किए। उपदेश के लिए ग्लानि को प्राप्त हुए पीछे होने वाले मनुष्यों ने स्पष्ट तथा परिज्ञान हेतु वेदाङ्गों का निर्माण किया।

पतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य में यदि – 'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं प्रधाने च कृतः प्रयत्नः फलवान् भवति[2]' लिखकर व्याकरण को वेदाङ्गों में प्रधान बताया तो आचार्य भास्कर ने ज्योतिष् के विषय में लिखा –

वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषं मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते।
संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिश्चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः।।

अर्थात् जैसे कान नाक आदि अन्य अङ्गों से संयुक्त होने पर भी नेत्रविहीन मनुष्य अकिञ्चित्कर होता है, उसी प्रकार ज्योतिष्शास्त्ररूपी नेत्र के बिना वेदों का वास्तविक अर्थ स्पष्टतया ज्ञात नहीं हो सकता।

ज्योतिष् शब्द द्युतदीप्तौ धातु से 'द्युतरिसिन्नादेश्च जः' सूत्र द्वारा इसुन् प्रत्यय और द को ज आदेश करने पर सिद्ध होता है। जिसका अर्थ होता है ज्योतिषां बोधकं शास्त्रम् अर्थात् जिसमें सूर्य, पृथिवी, चन्द्र, नक्षत्र, तारे, ब्रह्माण्ड, रात-दिन, ऋतुएँ, दिशाएँ, वर्ष, मास, पल, अयन, युग, मन्वन्तर, कल्प आदि का विस्तृत वर्णन हो उसे ज्योतिष शास्त्र कहते हैं। वेदों में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारों, ब्रह्माण्ड, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, चन्द्रास्त, ऋतुओं के नाम, पूर्णिमा, अमावस्या आदि ज्योतिष् सम्बन्धी अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं किन्तु इन सब

प्रक्रियाओं का मूलकारण तथा इनकी वास्तविक स्थिति के साथ-साथ काल का विस्तृतज्ञान, दिन, मास, वर्ष, युग, घटी, पल, होरा, सन्धि, तिथि, पक्ष, कल्प, प्रलय आदि का विस्तृतवर्णन ज्योतिष् शास्त्र से ही अवगत किया जा सकता है।

यजुर्वेद में बारह मासों का तथा ऋतुओं का उल्लेख इस प्रकार है-

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू।
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू। तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू।[3]

किन्तु ऋतुपरिवर्तन किस प्रकार होता है? इसका विस्तार ज्योतिष् शास्त्र से ही जाना जा सकता है।

ऋग्वेद में 1/164/48 वाँ मन्त्र है –

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्नचलाचलासः॥

इसमें बताया गया है - कि एक चक्र है जिसकी बारह प्रधियाँ हैं और अचल रूप से 360 शंकु अर्थात् अंश है। उसमें तीन नाभियाँ हैं।

अथर्ववेद[4] में भी यही कहा गया है –

तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्चखीला अविचाचला ये।

इन मन्त्रों के वास्तविक रहस्यों का ज्ञान ज्योतिष् शास्त्र से ही सम्भव है।

सूर्यसिद्धान्त के मानाध्याय (14) में लिखा -

द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादयः।
मेषादयो द्वादशैते मासास्तैरेव वत्सरः॥10॥

अर्थात् दो दो राशियों के भोगकाल को ऋतु कहा जाता है (अर्थात् दो राशियों तक सूर्य एक ऋतु में रहता है) शिशिर आदि ऋतुओं की प्रवृत्ति मकरराशि से होती है अर्थात् मकरकुम्भ मे सूर्य के रहने पर शिशिर ऋतु, मीन मेष में वसन्त आदि। मेषादि बारह राशियों में सूर्य के रहने से 12 मास होते हैं तथा इन्हीं 12 मासों में एक सौर वर्ष होता है।

ज्योतिष् शास्त्र के इस प्रकार वर्णनों को पढ़कर सुस्पष्ट होता है कि वेद में जिस चक्र का वर्णन आता है, उसे संवत्सर कहते हैं। बारह प्रधियों से तात्पर्य संवत्सर के बारह महीने या बारह राशियाँ हैं। तीन नाभियाँ सर्दी, गर्मी, वर्षा ये तीन ऋतुएँ हैं। 360 शंकु संवत्सर के 360 दिन है।

ऋतु परिवर्तन के एक अन्य रहस्य को भी सूर्यसिद्धान्त में वर्णित किया गया है–

अत्यासन्नतया तेन ग्रीष्मे तीव्रकरा रवेः।
देवभागेऽसुराणां तु हेमन्ते, मन्दताऽन्यथा॥

अर्थात् मेष के कन्या पर्यन्त सूर्य के देवभाग में क्षितिज से ऊपर तथा रवमध्य के

आसन्न रहने से उत्तरगोल में सूर्य की रश्मियाँ तीव्र होती हैं जिनसे ग्रीष्म ऋतु में उत्तरगोल में गर्मी होती है। इसी प्रकार तुलादि छः राशियों में दक्षिणगोल में सूर्य के रहने से हेमन्त ऋतु में गर्मी होती है। इस से विपरीत स्थिति अर्थात् उत्तर गोल में हेमन्त ऋतु में शीत तथा दक्षिण में ग्रीष्म ऋतु में सर्दी होती है।

ऋग्वेद में मन्त्र है – **'उक्षा दाधार पृथिवीमुतद्याम्'** अर्थात् उक्षा ने पृथिवी को धारण किया है। साधारण लौकिक भाषा में उक्षा का अर्थ है बैल किन्तु बैल में पृथिवी को धारण करने का सामर्थ्य कहां से आएगा? इसकी भी सङ्गति ज्योतिष् के ग्रन्थों के अध्ययन से होगी।

सूर्यसिद्धान्त[5] में कहा गया –

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
विभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्॥

अर्थात् ब्रह्माण्ड के चारों ओर मध्य भाग में यह भूगोल ब्रह्मा की धारणात्मिका परमशक्ति से आकाश में अवस्थित है।

भास्कराचार्य ने भी सिद्धान्तशिरोमणि[6] में लिखा –

भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा
वृत्तैर्वृत्तो वृतः सन् मृदनिलसलिलव्योमतेजोभयोऽयम्।
नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे
निष्ठं विश्वं च शश्वत्सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात्॥

अर्थात् मिट्टी, वायु, जल, आकाश और तेजोमय भूमिपिण्ड-चन्द्रमा बुध शुक्र सूर्य मंगल बृहस्पति शनि और नक्षत्रों की कक्षाओं से आवृत है।

पृथ्वी किसी आधार पर आधारित न होकर स्वयं अपनी शक्ति से आकाश में संस्थित है। भूपृष्ठ में चारों तरफ मानव दानव वन उपवन आदि सुशोभित है। पृथ्वी चारों तरफ उद्यान ग्राम नगर देवस्थान आदि से व्याप्त है जैसे कदम्बपुष्प ग्रन्थि के चारों तरफ केसर संस्थित है तद्वत् इस पृथ्वी में पर्वतादिक भी ऊपर नीचे सीधे खड़े हैं।

इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए आचार्य भास्कर लिखते हैं –

मूर्तो धर्ता .....॥4॥

अर्थात् पृथ्वी वस्तुतः अपनी ही शक्ति से अपने स्थान पर स्थित है। यदि पृथ्वी को धारण करने वाला कोई शक्ति विशेष अन्य पदार्थ माना जाए तो उस पदार्थ को धारण करने वाला कोई और पदार्थ होना चाहिए। इस प्रकार की कल्पनाओं में अनवस्था दोष स्वयं उत्पन्न हो जाता है। अन्ततः धार्यधारक पदार्थों की कल्पना में आदि और अन्त का मान ही नहीं हो सकता तो कहना पड़ता है कि पृथ्वी को धारण करने वाला कोई है उसको धारण करने वाला अन्य शक्ति पिण्ड है उसका भी धारण करने वाला वह अन्य पिण्ड है इस प्रकार कहाँ

तक क्या कहा जाएगा। अन्त में कहना पड़ेगा कि वह जो अन्तिम पिण्ड है वह अपनी शक्ति से आकाश में स्थित है तो इस प्रकार की कल्पना से तो अच्छा यही होगा कि पृथ्वी आकाश में अपने कक्ष पर अपनी शक्ति से स्थिर है अर्थात् यहाँ आधाराधेय कल्पना अनावश्यक है।

आचार्य भास्कर युक्तियाँ भी प्रस्तुत करते हैं–

यथोष्णतार्कानलयोश्च शीतता विधौ द्रुतिः के कठिनत्वमश्मनि।
मरूच्चलो भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रता बत वस्तुशक्तयः॥5॥

अर्थात् जैसे सूर्य और अग्नि में स्वाभाविक उष्णता है, जैसे चन्द्रपिण्ड में शैत्यानुभूति होती है, जल में द्रवता जैसे स्वाभाविक है, जैसे पृथ्वी में अचलत्व स्वाभाविक है, अर्थात् वह आकाश में अपनी जगह यथास्थान स्थित है अर्थात् आकाश में पृथ्वी का केन्द्रबिन्दु यथास्थान स्थिर है। परमात्मा की यह अद्भुत शक्ति अतिविचित्र है और अवर्णनीय भी।

वेद में कहा गया – सूर्येण उत्तभिता द्यौः[7], दाधर्थ पृथिवी अभितो मयूखैः[8]। यजु. (5/16), सवितायन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णात्। अर्थात् सूर्य अपनी आकर्षणशक्ति से पृथिवी को धारण करता है। अन्यत्र भी कहा–'स दाधार पृथिवीम्[9]' अर्थात् प्रजापति ने पृथिवी को धारण किया। ज्योतिष् के तथा वेदों में पठित मन्त्रों के आधार पर निष्कर्ष यही निकलता है कि ब्रह्मा ने सूर्य की आकर्षण शक्ति के द्वारा पृथिवी को आकाश में स्थिर किया। इस प्रकार 'उक्षा दाधार पृथिवीम्' में उक्षा का अर्थ है – सूर्य। आचार्य दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' के अष्टम समुल्लास में लिखा – वर्षा द्वारा भूगोल सेचन करने से सूर्य का नाम (उक्षा) है। उसने अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है।

सूर्यसिद्धान्त में भूगोलाध्याय श्लोक 73 में अन्य ग्रहों की भान्ति पृथ्वी का भी स्वकक्षा में परिभ्रमण का वर्णन किया गया है।

वेद में भी मन्त्र है–

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः[10]॥

इस मन्त्र में उव्वट तथा महीधर ने 'गौः' का अर्थ अग्नि किया है किन्तु दयानन्द सरस्वती को ज्योतिष् शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था इसलिए प्रसङ्गानुसार उन्होंने 'गौ' का अर्थ पृथिवी करते हुए लिखा – 'यो गच्छति स भूगोलः।' गौरिति पृथिवीनामसु पठितम्[11]।। गौरिति पृथिवी नामधेयम्। यदू दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति[12]। इस मन्त्र का ऋषि के अनुसार हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है – यह पृथिवीगोलक – गति करने वाला भूगोल, अपने आदित्य रूप माता के चारों ओर गति करता हुआ और अपने उत्पत्ति निमित्त जल की भी गति करता हुआ अन्तरिक्ष में चारों ओर घूमता है तथा अपनी कक्षा में भी घूमता है।

वेद में ज्योतिष् के ऐसे अनेकों गहरे रहस्यों को उद्घाटित करने वाले शब्द हैं जिनका लौकिक सुप्रसिद्ध अर्थ कुछ ओर है, उनके वास्तविक तथ्यों को जानने के लिए ज्योतिष् का अध्ययन आवश्यक है।

ज्योतिष् शास्त्र में नक्षत्रों से सम्बन्धित, ऋतुओं से सम्बन्धित युग, कल्प, अहोरात्र, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, सौरमास, चान्द्रमास, सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि की परिक्रमा आदि अनेकों महत्त्वपूर्ण विषय हैं, वेदार्थ निरूपण में जिनका परिज्ञान अत्यावश्यक हैं, इसलिए आचार्य दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदों के ज्ञान के साथ वेदाङ्गों का ज्ञान जिसमें ज्योतिष् शास्त्र का अध्ययन भी आवश्यक बताया। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में वे लिखते हैं - अर्थवेद ..... उस विद्या को सीख कर दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र सूर्यसिद्धान्त आदि जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है इसको यथावत् सीखे। ऋ.भा.भू.[13] में पठनपाठनविषय में लिखा-

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्।
ततो निघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषां वेदाङ्गानाम्। .....

मनुष्यलोग वेदार्थ जानने के लिए अर्थयोजना सहित व्याकरण ..... ज्योतिष् ये छः वेदों के अङ्ग ..... जिनसे वेदार्थ ठीक ठीक जाना जाता है ..... वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणी

1. निरुक्त 1/20
2. महा. पस्पशाह्निक
3. यजु. 13/25, 14/15, 15/57
4. अथर्व. 10/8/4
5. सूर्यसिद्धान्त-भूगोलाध्याय श्लोक सं.32
6. गोलाध्याय, श्लोक सं. 2
7. ऋ. 10/8/57
8. यजु. 5/16
9. ऋ. 10/121/1
10. यजु. 3/6
11. निघ. 1/1
12. निरु. 2/5
13. लेखक-दयानन्द सरस्वती

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (74-79) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

वैदिक कालीन कृषि व्यवस्था की आज के युग में प्रासंगिकता

–डॉ. मीरा रानी रावत

एसो. प्रोफेसर संस्कृत विभाग

आर्य कन्या महाविद्यालय, हरदोई

[विविध ज्ञान के अनन्त भण्डार वेदों में कृषि प्रणाली का विस्तृत वर्णन मिलता है 'अन्नं ह प्राणा:' इस वैदिक वचन में अन्न को प्राण स्वरुप कहा गया है। अत: अन्नों की उत्पत्ति हेतु कृषि का महत्व स्वत: सिद्ध है। प्रकृति के सान्निध्य में बैठकर जीवन के शाश्वतिक मूल का चिन्तन करने वाले दिव्य दृष्टि सम्पन्न वैदिक ऋषियों ने भारतीय सस्यों, फलों, वृक्षों तथा उनके साधनों का अप्रतिम दिव्य नेत्रों से साक्षात्कार किया था। ऋषियों की अवधारणा है कि प्राणों के संरक्षण हेतु कृषि कर्म को जितना अधिक विज्ञान, विवेक और पुरुषार्थ से समन्वित करेंगे, हम उतनी ही अधिक मात्रा में अन्न सम्पत्ति को प्राप्त कर सकेंगे। आज के वैज्ञानिक युग में यदि हम वेदकालीन कृषि विज्ञान का अनुशीलन करेंगे तो निश्चित रूप से यह ज्ञान कृषि कर्म के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। आवश्यकता है वेदों में वर्णित ऋषियों के विचारों को आत्मसात् करने की।]

ज्ञान विज्ञान के अनन्त भण्डार वेद भारतीय संस्कृति के आधार है। वेदों में विविध ज्ञान विज्ञानों का विस्तृत वर्णन मिलता है। वस्तुत: भारतीय कृषि प्रणाली भारतीयों की जीवन – प्रणाली रही है। गाँव के खेतों खलियानों उद्यानों वनों उपवनों में बैठकर जीवन के शाश्वतिक मूल का चिन्तन करने वाले दिव्य दृष्टि सम्पन्न ऋषियों ने भारतीय सस्यों – फलों, विविध प्रकार के वृक्षों तथा उनके साधनों का अप्रतिम दिव्य नेत्रों से साक्षात्कार किया। भारतवर्ष प्राचीन काल से ही कृषि पर आधृत देश के रूप में जाना जाता है। कृषि से अन्न की उत्पत्ति होती है, जो मानव की अनिवार्य आवश्यकताओं में से एक है। अन्न ही प्राणियों का प्राण है। प्राणों के संरक्षण हेतु कृषि कर्म को जितना अधिक विज्ञान, विवेक और पुरुषार्थ से करेंगें उतना ही अधिक उत्तम अन्न सम्पत्ति का लाभ प्राप्त कर सकेंगें। अत: हमारे भारत की अमूल्य निधि वेदों में कृषि विज्ञान का विस्तृत विवेचन है। वेद कहता है कि हम उत्तम अन्नों की कृषि करें व करायें। वैदिक ऋषियों का कृषि सम्बन्धी दिव्य ज्ञान प्रस्तुत लेख में वर्णित है।

विश्व में उपलब्ध समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूलाधार वेद ही है। महर्षि दयानन्द ने स्वयं ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में मुक्त स्वर से घोषणा की है कि-

'वेदेषु सर्वाविद्याःसन्ति आहोस्विन्न।
अत्रोच्यते सर्वाःसन्ति मूलोद्देशतः।।[1]'

उनका विचार है कि अवयव रूप विषय तो अनेक हैं परन्तु मुख्य चार हैं– विज्ञान कर्म उपासना एवं ज्ञान।[2] अपने मन्तव्य के स्पष्टीकरण में आपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ब्रह्म विद्या, वैद्यक विद्या, राज विद्या, यज्ञ विद्या, कृषि विद्या, जलपोत, वायुयान, शिल्प विद्या आदि विविध विद्याओं का प्रमाणों सहित प्रतिपादन किया है। आचार्य मनु ने भी 'सर्वज्ञानमयो हि सः'[3] कहकर वेदों को सभी विद्याओं का भण्डार माना है। सर मोनियर विलियम्स के विचार भी यहाँ उद्धरणीय है जिन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि हिन्दू केवल व्याकरण शास्त्र के ज्ञान में ही श्रेष्ठ नहीं थे अपितु वे ज्योतिष, अंकगणित, बीजगणित, वनस्पतिशास्त्र और औषधि का ज्ञान भी बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके थे।4

परमात्मा की सर्वोत्तम कृति मानव ने जब धरा पर अपने नेत्र खोले तो स्वयं को प्रकृति के समीप ही पाया। सम्भवतः यही प्रकृति, प्रेम का भाव कृषि प्रेम के भाव में परिवर्तित हो गया। वेदों में कृषि का विकास ही नहीं हुआ वरन् यह वृत्ति के रूप में विकसित हो गया। ऋग्वेद के दशम मण्डल मे जुए में आसक्त मानव को कृषि करने हेतु प्रेरित किया गया है।[5] कृषि से अन्न की उत्पत्ति होती है, अन्न ही प्राण है।[6] अतः श्रेष्ठ अन्न सम्पति को प्राप्त करने हेतु कृषि कर्म में दक्षता अनिवार्य है[7] वेदों में सफल व्यक्तियों को 'कृष्णराधि' कहा गया है। कृषि विशेषज्ञों के लिए 'अन्नविद्' नाम का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद में समुल्लिखित है कि पृथीवैन्य कृषि विद्या के आविष्कारक थे–

'तां पृथीवैन्यो ऽ धोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्'[8]

कृषि का आधार पृथिवी में क्योंकि पृथिवी में ही नाना प्रकार के बीजों का वपन किया जाता है और हमें विविध प्रकार के अन्न तथा वनस्पतियाँ प्राप्त होती है। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त पृथिवी की महिमा से मण्डित है 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की भावना से मण्डित प्रत्येक मन्त्र पृथिवी के प्रति उदात्त भावनाओं से समन्वित है। सम्पूर्ण सूक्त में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि पृथिवी मेरी माता है तथा मैं उसका पुत्र हूँ, वर्षा करने वाला मेघ मेरा पिता है वह हमारा पोषण करे। इस सूक्त में पृथिवी के लिए प्रयुक्त 25 पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किसी न किसी रूप में पृथिवी के महत्त्व को ही वर्णित करते हैं यथा – 'अग्निवासा, इन्द्र ऋषभा, इन्द्रगुप्ता, अदिति, आवपनी, कामदुधा, क्षमा अग्रेत्वरी, कीलालहनी, गुहां, पयस्वती, पर्जन्य पत्नी, प्रतिशिवरी, मन्द्रा, भूरिधारा, ध्रुवा, विश्वदानी, विमृग्वरी, विश्वगर्भा, वर्षमेदसी, हिरण्यवक्षा, भूमि, वसुधानी, विश्वम्भरा और महती।' ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में भी अनेकों स्थानों पर पृथिवी माँ की वन्दना के साथ साथ कृषि का संरक्षण करने तथा धन धान्यादि समृद्धि प्रदान करने की कामना की गयी है।[9]' ये सभी स्थल कृषि कर्म हेतु पृथिवी की महत्ता को वर्णित करते है।[10] वैदिक काल में कृष्य एवम् अकृष्य रूप से भूमि को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया है कृषि योग्य भूमि

को कृष्य कहकर सम्बोधित किया गया है। जिस भूमि पर कृषि सम्भव न हो उसे अकृष्य कहा गया है। कृष्य भूमि को उत्पादन क्षमता के आधार पर आर्तना, अप्नस्वती एवम उर्वरा नामक तीन भागों में विभाजित किया गया है। अत्यन्त कंकरीली, पथरीली जलहीन अनुपजाऊ भूमि आर्तना कहलाती है। इस भूमि में यदा-कदा ही कृषि कार्य सम्भव है। अप्नस्वती भूमि में कम परिश्रम द्वारा अधिक उपज होती है। उर्वरा कृषि योग्य अच्छी भूमि का द्योतक है।[11] इसे उर्वर या क्षेत्र भी कहा जाता है। इसमें नियमित खेती की जाती है अकृष्य भूमि को भी ऊसर भूमि, खिल या खिल्य एवम् अरण्य या जंगल नामक तीन भागों में बाँटा गया है। लवणयुक्त भूमि जो मवेशियों के चारे के योग्य थी उसको 'ऊष' भूमि के नाम से अभिहित किया जाता है कालान्तर में इसे ऊसर कहा जाने लगा।[12] रौथ[13] के अनुसार अथर्ववेद में खिल का अर्थ कृषित भूमि के मध्य पड़ी बंजर भूमि है। [14]पिशल के अनुसार सामुदायिक चारागाह के रूप में प्रयुक्त चौड़ी भूमि को 'खिल; कहा जाता था। अरण्य अथवा जंगल का अभिप्राय बड़े-बड़े वृक्षों से युक्त भू-भाग से है। ऋग्वेद में घास के मैदान या चारागाह के लिए गव्यूति शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[15] ऋग्वेद में नदी द्वारा लायी गयी मिट्टी से निर्मित क्षेत्र को क्षेत्र-जय कहा गया है।[16]

वेदों में विविध प्रकार के अन्न व वनस्पतियों की खेती करने का उल्लेख मिलता है। अनेक प्रकार के धान्य, यव, साठी के धान, मटर, तिल, अरहर, उड़द, मूँग, नारियल, चना, गेहूँ और मसूर आदि अन्नों की खेती का उल्लेख है।[17] इसके अतिरिक्त पशुओं के लिए चारा, ईंधन, फल-फूल सब्जियों कपास आदि की खेती का भी वर्णन मिलता है। रोगों के उपचार के लिए औषधियों की खेती का विस्तृत वर्णन है।[18]

खेतों की जुताई कृषि का एक आवश्यक अंग है। कृषक हलों से खेतों की भली भाँति जुताई करने के पश्चात् ही बीज-वपन करते थे। खेत को कुदालों द्वारा भी जोता जाता था। [19]शतपथ ब्राह्मण में जोतने की क्रिया के लिए 'कृषन्तः' शब्द का प्रयोग हुआ है। [20]ऋग्वेद में समुल्लिखित है कि कृषि कर्म में कुशल जन खेतों को निरन्तर जोतकर बीज बोकर अन्न व धन पाते थे।[21]

ये सभी तथ्य है वैदिक कालीन कृषि की सम्यक् व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। सिंचाई कृषि का प्राण है। ऋग्वेद में वर्षा, झरने, कुआं व स्वयं स्रोत द्वारा फूटने वाले जल का उल्लेख मिलता है। [22]कुओं को 'अक्षय' कहा गया है इनके जलों को रस्सी द्वारा खींच कर सिंचाई का उल्लेख है। [23]एक अन्य स्थल पर 'अश्मचक्र' यंत्र का उल्लेख है यह पत्थर की एक चकली का बना होता था इसके माध्यम से चमड़े की बनी थैली द्वारा जल निकाला जाता था। [24]इसके अतिरिक्त तालाब जल धारा तथा नलिका द्वारा सिंचाई का अनेकशः वर्णन मिलता है।

खेतों में प्राकृतिक खाद के रूप में जानवरों के गोबर का प्रयोग किया जाता था जिसे 'करीष' कहते थे। [25]वैदिक काल में सामुदायिक स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता

था। अवशिष्टों को पृथिवी का भाग समझने का अभिप्राय उसकी खाद बनाकर उर्वरा शक्ति विकसित करने से तथा प्रकृति में प्राप्त पोषक तत्वों को वैदिक ऋषियों ने जान लिया था। सस्य काटने की क्रिया को 'लुनन्तः' कहा गया है। [26]कटी फसल को खलिहान या घर लाने को 'प्रययण' कहा गया है। [27]खलिहान में पड़े सूखे जौ, गेहूँ आदि अन्न को पटक-पटक कर झाड़ा जाता था इस क्रिया को शतपथ ब्राह्मण में 'मृणन्तः' कहा गया है। इसके पश्चात् सूप द्वारा पटक कर भूसा अलग कर अनाज अलग किया जाता था।[28] अन्न साफ करने के पश्चात् उर्दर में रखकर मापा जाता था।[29]

इस प्रकार संक्षेप में वेदों में कृषि सम्बन्धी समस्त साधनों का विधिवत् वर्णन मिलता है। ध्यातव्य है कि वैदिक काल में कृषि कार्य में संलग्न मजदूरों व जानवरों के प्रति प्रेम पूर्ण व्यवहार किया जाता था। तत्कालीन समाज की यह भावना थी कि सभी परिस्थितियाँ अनुकूल रहने पर ही स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण सम्भव है। अतः वैदिक ऋषियों ने वेदमन्त्रों के माध्यम से प्रार्थना की है कि बैल आदि पशु सुख प्राप्त करें, कृषि करने वाले मनुष्य सुख प्राप्त करें, हल सुख पूर्वक पृथ्वी में प्रविष्ट हो, बैल को रस्सी से सुख पूर्वक बाँधा जाए तथा खेती के साधन सुख पूर्वक वृद्धि को प्राप्त हों-

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लांगलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रा मुदिंगय॥

शुनं न फालाः वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥[30]

वेद कालीन कृषि व्यवस्था के सम्बन्ध में एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि तत्कालीन संस्कृति यज्ञ प्रधान संस्कृति थी अतः वैदिक कृषि की समृद्धि का कारण यज्ञ को माना जाता है। वेद में भूमि संस्कार का सरल उपाय यज्ञ बताया गया है। यह कथन स्पष्ट रूप से वर्णनीय है कि

पृथिवी च मे यज्ञेन कल्पताम्।[31]

पृथिवी को यज्ञ के द्वारा सामर्थ्यवान् बनाया जाय। जिस स्थान पर कृषि कार्य करना हो वहाँ प्रातः व सायंकालीन किया गया यज्ञ उस समय बहने वाली वायु में मिलकर पृथ्वी का स्पर्श कर पार्थिव कणों को संस्कारित करेगा। यज्ञाहुति से वातावरण में एक विशेष प्रकार का वायव्य खाद प्रसारित हो जाता है उससे वृक्ष वनस्पति तथा कृषि को विशेष लाभ होता है। प्रातः काल पृथ्वी की ऊपरी परत में आर्द्रता रहती है तथा वायु की गति पृथिवी की कक्षा के अनुसार होती है अतः उसका घर्षण उसके ऊपरी भाग पर होने से आर्द्रता के कारण यज्ञ-धूम का उसमें विलीनीकरण सरलता से होगा। इस प्रकार अनायास ही यज्ञ के माध्यम से कृषि भूमि भी उत्तरोत्तर संस्कारित होती जायेगी। इस संस्कारित भूमि में उत्पन्न अन्न भी आरोग्य दायक तथा अधिक मात्रा में होगा। यज्ञ सम्पादन से कृषि के आश्चर्य जनक लाभ को देखकर वेद विज्ञानाचार्य पं वीरसेन वेदाश्रमी का कथन है कि "जिन वृक्षों में फल नहीं

आते थे उनमें फल की उत्पत्ति हुई तथा जिनमें छोटे और स्वाद रहित फल आते थे उनमें बड़े आकार के फलों और अधिक स्वाद वाले फलों की उत्पत्ति का अनुभव किया। जिस प्रकार वायु में ऑक्सीजन और नाइट्रोजन प्रधानरूपेण होने पर ऑक्सीजन से चेतन प्राणियों को जीवन मिलता है और नाइट्रोजन से वानस्पतिक जगत् की पुष्टि होती है, उसी प्रकार यज्ञधूम से वानस्पतिक जगत् तथा उसके तेजस् सूक्ष्म प्राण से चेतन प्राणियों को विशेष लाभ मिलता है।[32]

यह तथ्य सर्वविदित है कि पौधे दिन में कार्बन डाईआक्साइड गैस खींचकर प्रकाश संश्लेषण को क्रिया द्वारा अपना भोजन बनाते हैं। यज्ञ से निकलने वाली कार्बन डाईआक्साईड पौधों का आहार बन जाती है। इतना ही नहीं वैदिक मन्त्रों की ध्वनियाँ भी कृषि की उत्पत्ति पर प्रभाव डालती हैं। बीजवपन आदि के समय किया गया मंत्रोच्चारण कृषि की उपज को प्रभावित करता है। यज्ञीय भस्म कृषि में कीट-नाशक का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त वेदों में कृषि विज्ञान सम्बन्धी अनेक विवरण उपलब्ध होते हैं। वेदों में वर्णित कृषि सूक्त, वर्षासूक्त तथा वृषभ सूक्त के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य कृषि कर्म में पूर्णतया निपुण थे उन्हें भूमि को उपजाऊ बनाकर प्रचुर मात्रा में अन्न प्राप्त करने की कला प्राप्त थी। यदि आज के वैज्ञानिक युग में भी हम वेदकालीन कृषि विज्ञान का लाभ लें तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक ज्ञान कृषि कर्म के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। आवश्यकता है अपनी ही धरोहर वेदों के अध्ययन करने की तथा अपने ऋषियों के विचारों को आत्मसात् करने की। प्रस्तुत लेख के माध्यम से मैंने वेद कालीन कृषि व्यवस्था का वर्णन करते हुए आज के युग में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ब्रह्मविद्याविषयः, महर्षि दयानन्द, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली
2. वही, वेद विषय
3. मनुस्मृति 2/7
4. संस्कृत अंग्रेजी कोश पृष्ठ 21 सर मोनियर विलियम्स
5. अन्नं ह प्राणः। ऐतरेय ब्राह्मण 1/17/5
6. सुसस्याः कृषीस्कृधि। यजुर्वेद 4/01
7. ऋग्वेद 10/34/13
8. अथर्ववेद 8/10/(4)11
9. ऋग्वेद - द्रष्टव्य 7/35/3; 5/42/16; 10/18/10-11; 1/176/2; 10/146/6; 10/117/7 यजुर्वेद 36/13; 9/22, 13/18, 36/13
10. अथर्ववेद 2/4/5
11. ऋग्वेद 1/127/6
12. तैत्तिरीय संहिता - 5/2/3/12 ऐतरेय ब्राह्मण 4/27
13. द्रष्टव्य - सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश

14. वेदिशे स्टूडियन 2/205
15. ऋग्वेद 1/25/16
16. ऋग्वेद 9/85/4
17. द्रष्टव्य ऋग्वेद 5/53/13 यजुर्वेद 18/22 अथर्ववेद 6/140/2
18. ऋग्वेद 7/2/1-7, 2/21/6, 5/18/10; 10/99/1-10
19. बौधयन धर्मसूत्र 3/2/3
20. शतपथ ब्राह्मण 1/6/1/3
21. ऋग्वेद 1/176/2
22. ऋग्वेद 10/101/5-7
23. ऋग्वेद 10/101/5
24. ऋग्वेद 10/101/7
25. शतपथ ब्राह्मण 2/1/1/7
26. शतपथ ब्राह्मण 1/6/1/3
27. गोभिल गृह्यसूत्र 4/4/29
28. यजुर्वेद 10/32; 23/38; 23/26
29. ऋग्वेद 2/14/11
30. ऋग्वेद 4/57/4; 4/57/8
31. यजुर्वेद 18/12
32. यज्ञ महाविज्ञान, पृष्ठ 46

✦✦✦

वि रक्षो वि मृधो जहि। -अथर्व. 1.21.3
राक्षसों का संहार कर, हिंसकों का संहार कर।

वि वृत्रस्य हनू रुज। -अथर्व. 1.21.3
शत्रु की दाढ़ें तोड़ दे।

असमृद्धा अघायवः। -अथर्व. 1.27.3
देख, पापी लोग समृद्ध न हो पायें।

प्रति दह यातुधानान्। -अथर्व. 1.28.2
राक्षसों को भस्म कर दे।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (80-85) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

अथर्ववेद में पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा

–डॉ. कैलाश नाथ तिवारी
संस्कृत, प्रवक्ता
श्रीकृष्णमहाविद्यालय, हरजू
इटावा (उ.प्र.) 206001

विश्व में प्रत्येक जीव सुख की कामना करता है। अपने लौकिक सुखों के लिए मानव ने अंधाधुन्ध आवश्यकता से अधिक प्रकृति का दोहन किया है जिससे प्राकृतिक सन्तुलन का सिद्धान्त गड़बड़ा गया है और आज यह समस्या मानव प्रजाति के अस्तित्व के लिए प्रश्न चिन्ह बन गयी है। अभी तक इस समस्या के लिए किए जाने वाले भौतिक प्रयास एकदेशीय एवं अपर्याप्त प्रतीत हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमें एक बार पुनः अपनी सांस्कृतिक धरोहर की ओर उन्मुख होना पड़ेगा। वैदिक साहित्य भारतीय संस्कृति का स्रोत है। अतः इस शोध पत्र में अथर्ववेद को आधार बनाकर पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा पर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

पर्यावरण शब्द नवीन एवं पाश्चात्य भाषाओं से प्रभावित है। उसकी व्युत्पत्ति **परितः आवरणं पर्यावरणमिति** करके की जा सकती है। स्वाभाविक वस्तु का आवृत हो जाना, उसके स्वाभाविक गुण धर्मो में किसी अन्य गुण धर्मो का आरोपण अथवा उनमें परिवर्तन हो जाना ही पर्यावरण का प्रदूषण है। इस विश्व में हमारे चारों तरफ जो कुछ भी है वह सब पर्यावरण ही है। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति पशु-पक्षी कीट-पतंग आदि सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थूल से स्थूल जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह सब पर्यावरण में समाहित है। जब हम इनमें विसंगति या छेड़छाड करते हैं तो प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ जाता है और पर्यावरण के प्रदूषण का खतरा पैदा हो जाता है।

आज के समान पर्यावरण संरक्षण के स्वतंत्र विषय के रूप में चिन्तन की अवधारणा वैदिक काल में नहीं थी। वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण को समग्र दृष्टि से अभिन्न रूप में प्रतिपादित कर जीवन के साथ अनुस्यूत कर दिया था। प्रकृति और मानव जीवन का सांमजस्य एवं सन्तुलन ही पर्यावरण संरक्षण था।

अथर्ववेद में भूमि, जल, वायु, अग्नि, पर्जन्य एवं आकाश को मात्र जड़ प्रकृति न मानकर उनमें देवत्व की उद्भावनाऐं की गई हैं। अथर्ववेद का प्रसिद्ध पृथ्वीसूक्त अपने आप में अनूठा है। जहाँ भूमि को माता कहा गया है तथा स्वयं को उसका पुत्र। ऋषि कहता है- हे पृथिवी! आपके मध्य जो ऊंचे नीचे स्थान हैं आपमें जो ऊर्जा है वह मुझे प्रदान कर

उससे मुझे पवित्र कर। भूमि मेरी माता है और मै पृथिवी का पुत्र हूँ पर्जन्य पिता है वह हमें सब प्रकार से परिपूर्ण करें।[1] अन्यत्र कहा गया है–जिस पृथिवी पर समुद्र नदियां व जल प्रवाह है जिस पर कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न से समस्त प्रजायें जीवित एवं गतिशील हैं वह भूमि हमें उत्तम पौष्टिक पदार्थ प्रदान करे।[2] वहीं दूसरी ओर प्रार्थना है कि हे भूमि जो हम आपको खोदते हैं वह शीघ्र ही भर जावे। हे शत्रुओं का नाश करने वाली भूमि हम तेरे मर्म और हृदय पर प्रहार न करें।[3] यदि हम इसकी तुलना आज के युग में किए जाने वाले भूगर्भीय परमाणु परीक्षणों के Concept से करें जिससे भूगर्भ में अनेक परिवर्तन होते हैं तथा परमाणु विकरण होने से भूमि का जो अमृत तत्त्व क्षरित या क्षय होता है उससे भूमि की उर्वरा शक्ति प्रभावित होती है, तो यह मंत्र हमे पृथिवी के मर्म स्थानों या हृदय पर प्रहार करने से रोकता है अर्थात् पृथिवी तत्त्व को प्रदूषित करने से रोकने का संकेत करता है। केवल यही नहीं अथर्ववेद का भूमि सूक्त पृथिवी की गन्ध को सभी पार्थिव पदार्थों में अनुभव करते हुए सभी जीवधारियों से द्वेष या विरोध न करने की भावना भी व्यक्त करता है। देखें–यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः। यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु। कन्यायां वर्चो यत भूमे तेन स्मां अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन।।[4] यह विविध पशुओं पक्षियों[5] और जीवधारियों के प्रति अवैर भावना उनका संरक्षण हैं।

जल की पवित्रता स्वच्छता अथर्व वैदिक ऋषियों को मुख्यतया अभिप्रेत थी तभी तो उन्होंने भूमि पर शुद्ध जलों के प्रवाहित होने की प्रार्थना की है।[6] सुन्दर स्वच्छ शुभ्रवर्ण वाले जल में अग्नि का वास होने की भावना करते हुए जलों से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे लिए सुखदायक एवं कल्याणकारी हों।[7] हमारी त्वचा के लिए उनका स्पर्श सुखदायक हो।[8] इसी सूक्त में जल में राजा वरुण का भी वास बताया गया है।[9] नदियों को जामयः कहा गया है और उनके जल की तुलना दुग्ध और मधु से की गई है।[10] अन्यत्र जल को अमृत रूप औषधि की भावना करते हुए उससे बलवान एवं पुष्ट होने का उल्लेख है[11], तो कहीं जल से प्रार्थना है कि माता के समान अपने कल्याणकारी रस तत्त्व से हमें पुष्ट करे।[12] इस प्रकार जल में दिव्यत्व की उद्भवना के साथ ही मरुस्थलीय, जलानुगत प्रदेशों के जल खोद कर निकाले गये जल कुम्भ में रखे गये जल, वर्षा का जल, झरनों का जल, प्रवाह शील जल, हिमाम्बु आदि जलों का पृथक्–पृथक् उल्लेख किया गया है।[13]

वायु का जीवन के लिए विशेष महत्त्व है। प्राण एवं अपान के आधार पर ही यह शरीर स्थित है। वायु को विश्व भेषज बताते हुए बल वर्धक, सर्व रोग निवारक कहा गया है जो बाहर से भेषज (बल) ऑक्सीजन लाता है तथा शरीर के दूषित तत्त्वों को बाहर करता है।[14] उसे देवदूत भी कहा गया है।[15]

अग्नि को जातवेदाः कहा गया है। अग्नि वैदिक ऋषियों का प्रधान आराध्य रहा है। ऋग्वेद एवं सामवेद का प्रारम्भ ही अग्नि की स्तुति से हुआ है। अथर्ववेद में भी अग्नि की प्रशंसा में अनेक सूक्त लिखे गये हैं। जहां अग्नि सर्व पूज्य सर्वव्यापी है एवं सदा अग्नि के सानिध्य मे रहने की प्रार्थनाऐं है[16] वहीं कच्चा मांस खाने वाली क्रव्यादग्नि के दूर जाने की

प्रार्थना की गई है। क्रव्यादग्नि की तुलना शव को जलाने वाली अग्नि से की जा सकती है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि अग्नि की पवित्रता के विषय में भी सुविज्ञ थे।

अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में उपर्युक्त भौतिक तत्त्वों के शान्त एवं कल्याणकारी होने की प्रार्थनाऐं हैं। ऋषि कहता है-शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्। शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः .....शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः.....सर्व शान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः[17] अन्यत्र दिशाओं, पर्वतों, नदियों, वायु, पर्जन्य आदि से भी कल्याणकारी होने की प्रार्थना है।[18]

प्रकृति के साथ साहचर्य एवं सदुपयोग की भावना अथर्ववेद की अपनी मौलिक विशेषता है। चिकित्सा विज्ञान में अन्य विधियों के साथ प्राकृतिक चिकित्सा का भी उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद के एक मंत्र में सूर्य की लाल रंग की किरणों से हृदय रोग एवं कामलारोग के उपचार का संकेत है।[19] इसी प्रकार जल से भी अनेक-अनेक रोगों की चिकित्सा का वर्णन अथर्ववेद में है। जल को **विश्व भेषज** कहे जाने का पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में अनेक रोगों के लिए खुली स्वच्छ जल वायु सेवन करने का विधान किया गया है जिसमें पर्वतों एवं वनस्पतियों से युक्त वनों मे निवास करना[20], स्वच्छ वायु का सेवन करना सदा रोहण करने वाली दूर्वादि वनस्पति वाले क्षेत्रों मे भ्रमण करना आदि सम्मिलित है।[21]

अथर्व वैदिक ऋषियों के आवास नदियों सरोवरों के समीप होते थे, उनके पास घास का लॉन, फूलने वाले पुष्प, तालाबों में खिलने वाले कमल हुआ करते थे। उन गृहों मे शीत इत्यादि से बचने के लिए अग्नि शालाऐं होती थीं।[22] इस प्रकार पूर्ण रूपेण प्रकृति के मध्य स्वच्छ वातावरण में रहने की भावना अथर्व वैदिक ऋषियों की थी, जिससे वे प्रकृति से आधिकाधिक ऊर्जा ले सकते थे। जल के मध्य मे भी भवन (जल महल) बनाने का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है वरुण का निवास जल के मध्य बताया गया है।[23]

यज्ञ वैदिक ऋषियों की उपासना का मुख्य प्रकार है। यज्ञ के विषय में सम्पूर्ण संहिताओं में विस्तार से वर्णित है। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होता कि पुरुषसूक्त में यज्ञ से सम्पूर्ण सृष्टि का प्रादुर्भाव बताया गया है[24] तथा सत्य, ऋत, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ ही पृथिवी को धारण करने वाले बताये गये है।[25] अथर्व वेद के भूमि सूक्त में ही यज्ञों के द्वारा वर्धमाना-पुष्ट होती पृथिवी से प्रार्थना है कि वह हमें बढ़ाये अर्थात् पुष्ट करे।[26]

यदि इस पर विचार करें तो यज्ञ के द्वारा पृथिवी का बढ़ना पुष्ट होना पर्यावरण संरक्षण या पर्यावरण का पोषण ही है।

इसकी तुलना गीता से की जा सकती है जहां यज्ञ से पर्जन्य-बादल तथा मेघ से वर्षा द्वारा अन्न की उत्पत्ति तथा अन्न से प्रजाओं की सृष्टि बताई गयी है।[27]

इसके अतिरिक्त यज्ञों द्वारा वातावरण को शुद्धकर अनेक संक्रामक रोगों को भी फैलने से रोका जा सकता है। अथर्ववेद कहता है–हे जायान्य रोग जहाँ हम हवन करते हैं वहाँ तू हानि किस प्रकार पहुंचा सकता है।[28] अथर्व वेदीय गोपथ ब्राह्मण भी पर्यावरण की शुद्धि के लिए ऋतु सन्धियों में विविध औषधियों से भैषज्य यज्ञ का विधान करता है।[29]

सामाजिक जीवन में सामंजस्य की भावना का परिचायक अथर्ववेद का एक ही मंत्र सन्दर्भित करना पर्याप्त होगा–**जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।** अर्थात् अनेक प्रकार की वाणी बोलने वाले विविध स्वभाव वाले लोगों को पृथिवी एक घर की भांति धारण करती है। जैसे घर–परिवार में सामंजस्य होता है उसी प्रकार वैश्विक समाज में सांमजस्य की भावना यहां प्रतीत होती है। आर्थिक पक्ष में भी **शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त संकिर** अर्थात् सौ हाथों वाला होकर एकत्र करे तथा हजार हाथों वाला लेकर उसे समाज मे बांटे। यह भी आर्थिक सामंजस्य के सिद्धान्त का प्रतिपादक है। राजनैतिक पक्ष में राजा–प्रजा के मध्य सामंजस्य और सन्तुलन का प्रतीक प्रजा का रंजन करने के कारण ही उसे राजा की पदवी दी गई थी। अथर्ववेद में **सोऽरंजयत ततो राजन्योऽजायत** कहा गया है।

इस प्रकार सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक पर्यावरण में प्रदूषण की सम्भावना का सर्वथा निराकरण कर शुद्ध रखने की भावना अथर्ववेद में स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

अथर्व वेद में केवल बाह्य जड़ प्रकृति का प्रदूषण ही नहीं अपितु शारीरिक एवं मानसिक प्रदूषण रोकने की भी उद्भावना है। अथर्ववेद के एक मंत्र में स्पष्ट कहा गया है कि हे मन के पाप! तू मुझसे दूर हट तू मुझे असद् मार्ग पर क्यों ले जाता है मैं तेरी कामना नहीं करता हूँ तू जंगलों में जा मेरा मन गृह में और गायों में रमे।[30] इसकी तुलना यजुर्वेद के शिव संकल्प सूक्त से की जा सकती है जहाँ **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** की उद्भावना की गई है।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण संरक्षण के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों ही पक्षों पर सूक्ष्म चिन्तन किया, उन्होंने जिन बातों को धर्म, नैतिकता, स्वास्थ्य एवं संस्कृति से जोड़ कर जीवन में सहज ही अनुस्यूत कर दिया था उनके पालन से पर्यावरण का संरक्षण सहज ही स्वतः ही हो रहा था। उनकी उद्घोषणा थी–

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

अथर्व 19/15/5,6

आज मानव ने हमारे वैदिक ऋषियों के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर प्रकृति के साथ सामंजस्य को समाप्त कर दिया है। सर्वत्र प्रकृति को अपने लाभ के लिए उजाड़ने में लगा

है। सन्तुलन समाप्त होने से आज उसे सभी दिशाओं से सम्पूर्ण प्रकृति से भय है। अतः आज की इस भयावह परिस्थिति में यदि हम वैदिक ऋषियों के सिद्धान्तों को मान कर पुनः प्रकृति की ओर लौट चलें तो अवश्य ही कल्याण होगा और मानव प्रजाति की रक्षा हो सकेगी।

संदर्भ एवं पादटिप्पणियां

1. यत् ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः। तासुनो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उनः पिपर्तु।।12/1/12
2. यस्यां समुद्र उतसिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु 12/1/3
3. यत् ते भूमि विरवनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु। मा ते मर्म विमृग्वरि माते हृदयमर्पिपम्। 12/1/35
4. अथर्व 12/1/23-24 एवं 25-51-52
5. यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांषि-वर्षेण भूमिः वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि।। अथर्व 12/1/51-52
6. शुद्धा न आपस्तन्वे। क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तंनि दध्मः पवित्रेण पृथिवि मात पुनामि।।12/1/30
7. या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु। अथर्व 1/33/1-3
8. शिवेन मा चक्षुषा पश्यतायाः शिवया तन्वोपस्पृशत् त्वचं मे घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु। 1/33/4
9. यासां राजा वरुणो याति मध्ये. 1/33/2
10. अम्बयो यन्त्यध्वनिः जामयो अध्वरीयताम् पृञ्चतीर्मधुना पयः।।1/4/1
11. अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः। 1/4/4
12. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः उशतीरिव मातरः। 1/5/2
13. शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्त्रवन्तु नः तथा-शं नः आपो धन्वन्याः शमु सन्तु अनूप्याः। 1/6/1-4 तथा अथर्व 19/2/1-5 भी देखें।
14. द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः।। 4/13/2
15. त्वं हि र्विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे। 4/13/3
16. अथर्व 19/3/1-2
17. अथर्व 19/9/1-14
18. शंनः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमुसन्तु आपः.....शंन पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्यपतिरस्तु शंभुः। अथर्व 19/10/8 व 10
19. अनुसूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते। गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परिदध्मसि। अथर्व 1/22/1 व 2
20. यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च। अथर्व 1/12/3 सातवलेकर भाष्य द्रष्टव्य है।
21. शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।

अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं निदध्मसि।। अथर्व 1/22/4 सातवलेकर कृत भाष्य एवं टिप्पणी द्रष्टव्य है।

22. आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणी:
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान्
अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहा: पराचीना मुखा कृधि।।
हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम्।। अथर्व 6/106/1-3
23. अप्सु ते राजन वरुण गृहो हिरण्ययोमिथ:। अथर्व 7/83(88)/1
24. अथर्व 19/6/10-15
25. अथर्व 12/1/1
26. यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माण:। यस्यां मीयन्ते स्वरव: पृथिव्या मूर्ध्वा: शुक्रा आहुत्या: पुरस्तात्। सानो भूमि वर्धयत् वर्धमाना। अथर्व 12/1/13
27. अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव:।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञ: कर्मसमुद्भव:।। (गीता 3/14)
28. कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे।। अथर्व 7/76/(81)/5
29. गो.ब्रा. उ.प्र. 9/19
30. परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मन:। 6/45/1

✦✦✦

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह। -अथर्व. 13.1.34
आकाश में सबसे ऊँचा हो, पृथ्वी पर सबसे ऊँचा हो।

राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह। -अथर्व. 13.1.34
राष्ट्र में सबसे ऊँचा हो, धन में सबसे ऊँचा हो।

रोहितेन तन्वं संस्पृशस्व। -अथर्व. 13.1.34
इतना उन्नत हो कि सूर्य को छू ले।

हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एताम्। -अथर्व. 17.1.8
अपयश से छूट कर उन्नति की चोटी पर पहुँच जा।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (86-96) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

वेदों में भक्ति भावना

–डॉ. संदीप कुमार चौहान
वेद विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

यदि हम भारतीय चिन्तन और संस्कृति के अविरल प्रवाह को प्राक् ऐतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग तक उसकी समग्रता में देखें तो हमें स्पष्ट प्रतीत होगा कि देश की प्रतिभा ने काल के इस अटूट प्रवाह में लोक मंगल के उदात्त आदर्श को ही अपना लक्ष्य बनाकर उसकी अनुरूप दिशा का निरन्तर संधान किया है। परन्तु कुछेक विद्वानों ने भारतीय ज्ञानधारा पर आक्षेप करते हुए कहा है कि "आज समय का व्यवधान इतना बड़ा है कि हम उस आदिम स्थिति का ठीक ढंग से पर्यवेक्षण करने में प्रायः असमर्थ हैं जिसके उत्स से चिन्तन का यह प्रथम क्षीण स्त्रोत निकला होगा।" यह कथन[1] करना भारतीय मनीषा और युक्ति[2] के विपरीत है क्योंकि भारतीय विद्वान् एकमत से वेद को ईश्वर की वाणी और उसका ज्ञान मानते हैं। इस कारण वेद समस्त ज्ञान का मूल स्त्रोत है। उसी से समस्त ज्ञान–विज्ञान की शाखाएँ–प्रशाखाएँ विकसित हुई हैं। इस विषय पर महर्षि दयानन्द का स्पष्ट कथन है कि–"परमेश्वर से वेद विद्या मूल को प्राप्त होकर मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है।"[3]

इस प्रकार यह तथ्य सुगम है कि प्राचीन काल की अनेक सांस्कृतिक और धार्मिक मान्यताएँ जो हमें उत्तराधिकार के रूप में मिली हैं। हजारों वर्षों के चिन्तन, मनन और परीक्षण के उपरान्त सिद्धान्त और जीवन दर्शन के रूप में गृहीत हुई वह सब ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' से ही पल्लवित-पुष्पित हुई हैं।[4]

मनुष्य के अन्य ज्ञान प्रसार की भाँति ही 'भक्ति' का उत्स भी 'वेद' ही दृष्टिगोचर होता है। हों भी क्यों न आखिर वेद तो साक्षात् ईश्वर का अमर काव्य है और उसका मुख्य उद्देश्य ईश्वर की भक्ति, उसकी प्राप्ति और उसके अक्षय आनन्द की अनुभूति है। महर्षि दयानन्द ने 'वेद' का मुख्य प्रयोजन बताते हुए कहा है कि–

– **ओं** और **खं** ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं, और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है।

– वेदों में दो विद्याऐं हैं–एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति

होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।

- उस ब्रह्म की प्राप्ति से उत्तम कोई भी प्राप्ति नहीं है।
- चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिए विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।
- वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।
- इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है।
- वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है।

अतः निश्चित रूप से भक्ति, उसके लक्षण, भक्ति के अंग-साधन, उसके साध्य और भक्त आदि का विवेचन देवर्षि नारद और महर्षि शाण्डिल्य ने वेदों के आधार पर ही किया है। क्योंकि महर्षि शाण्डिल्य ने स्वयं कहा है कि **"भक्ति प्रमेया श्रुतिभ्यः।"**[5] अर्थात् भक्ति श्रूतियों से सिद्ध है अर्थात् प्रमाणित है। शाण्डिल्य कहते हैं–**ब्रह्मकाण्डं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात्।**[6] अर्थात् श्रुति में जो ब्रह्मकाण्ड है वह भक्ति के लिए ही है ज्ञान के लिए नहीं। और नारद शाण्डिल्य के मत को ही मानते हैं। उनके भक्तिसूत्रों में और शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों में सभी विषयों में अत्यधिक समानताएँ प्रकट होती हैं।[7]

वैदिक भक्ति के सोपान स्तुति, प्रार्थना व उपासना कहे गए हैं। "स्तुति से ईश्वर में प्रीति उसके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना।"[8]

यहाँ ध्यान देना चाहिए कि ईश्वर में प्रीति का नाम, स्तुति और उसके गुण, कर्म, स्वभावों से अपने गुण कर्म सुधारने से है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव को जानकर उससे प्रीति हो जाएगी और फिर उससे अपने गुण, कर्म, स्वभावों को भी हम ईश्वर की भाँति बनाने का प्रयत्न करेंगे तो यह प्रक्रिया 'स्तुति' कहलाएगी।

मनोवैज्ञानिक रूप से किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से प्रीति का कारण उस वस्तु अथवा व्यक्ति के गुण कर्म स्वभाव हैं अर्थात् यदि हम किसी व्यक्ति से प्रीति (प्रेम) करना चाहते हैं तो हमें उसके गुण कर्म स्वभाव जानकर उनको अपने मन में ध्यान करना और वाणी से वाचन करना होता है। जितना हम मन-वचन में उन गुण आदि का प्रयोग करते जाते हैं, उसके प्रति हमारी प्रीति वा प्रेम प्रगाढ़ होता जाता है। यह मनो योग 'स्तुति' का मूलाधार है जो कालान्तर में भक्ति की परिभाषा के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

वेद में एक मंत्र आता है–

पावमानीः स्वस्त्ययनी सुदुघा हि घृतश्चुतः।
ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम्॥[9]

(पावमानीः हि) पवित्र वेद की ऋचाएं ही (स्वस्त्ययनी) स्वस्ति सम्पादिका

(सुदुघा) सुदुहा (घृतश्चुतः) घृत क्षरा अर्थात् स्नेह (प्रेम) बरसाने वाली हैं। (रसः) रस = अनुराग = सोम = मधु है (ऋषिभिः सम्भृतः) ज्ञानियों द्वारा = भक्तों द्वारा भरा जाता है (ब्राह्मणेषु अमृतं हितम्) ब्राह्म जीवन जीने वाले = भक्तों में वह अमृत निहित होता है।

इस मंत्र में ऋचाओं को पावमानी अर्थात् अन्तःकरण को पवित्र करने वाली कहा गया है। ऋचाओं का अर्थ स्तुति कर्म होता है।[10] मंत्र में 'घृतश्चुतः' शब्द है जो घृत के स्नेहन गुण के लक्षण के कारण यहाँ आया है। स्नेहन, अत्यन्त अनुराग और प्रेम का द्योतक है।[11] महर्षि दयानन्द ने ईश्वर के 'मित्र' नाम की व्याख्या में लिखा है कि **"मेद्यति स्निह्यति स्निहयते वा"** अर्थात् जो सबको स्नेह करने और प्रीति करने योग्य हैं"[12] और अंत में मंत्र में कहा गया है कि ब्राह्मणों में (जो ब्रह्ममय जीवन जीते हैं) वह मधु रस = अनुराग रहता है।

इसका अर्थ हुआ कि वेद की स्तुति युक्त ऋचाओं के गायन से ईश्वर में प्रेम व अनुराग बढ़ता जाता है। वेद में स्तुति के पर्याय स्तोम, जरिता, गरिता व गायत्र आदि शब्द भी हैं।

वेद में 'स्तुति' सम्बन्धी अनेक मंत्र हैं जो व्यक्ति के ईश्वर की भक्ति में अनन्य प्रेम की अवधारणा के मूल हैं।

इस प्रकरण में हम सबसे पहले गायत्री[13] मंत्र के नाम से प्रसिद्ध मंत्र को लेते हैं।[14]

ओ३म्[15] भूर्भुवः स्वः।[16]
तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इसका अर्थ है–

भूः – (भूरिति वैः प्राणः)* जो सब जगत् के जीने का हेतु और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नाम 'भूः' है।

भुवः – (भुवरित्यपानः)* जो मुक्ति की इच्छा करने वालों मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है इसलिए परमेश्वर का नाम 'भुवः' है।

स्वः – (स्वरिति व्यानः) जो सब जगत् में व्यापक होके सबको नियम में रखता और सबके ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है।

सवितुः – सकलजगदुत्पादक, सकल ऐश्वर्यदाता

देवस्य – सुखप्रदाता

वरेण्यं – अत्यन्त ग्रहण करने योग्य

भर्गः – शुद्ध विज्ञानस्वरूप, दुःखविनाशक तेजस्वरूप

तत् – उसका

धीमहि – हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें।

यः – जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है वह

नः – हमारी

धियः – बुद्धियों को

प्रचोदयात् – कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

मंत्र का प्रत्येक शब्द मंत्रार्थ[17] के द्वारा भक्ति से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होता है–

पहली महाव्याहृति 'भुवः' का अर्थ ध्यान से देखने पर पता लगता है कि संसार में जीव के लिए सबसे प्रिय वस्तु प्राण है और इसका स्रोत भगवान् है अतः वस्तु से अधिक उसका स्रोत और भी अधिक प्रिय रहेगा।[18] इसी आधार पर वेद में ईश्वर को "भुवः" अर्थात् प्राणों से भी प्रिय कहा गया है।

अत्यन्त प्रिय के प्रति ही अनन्य प्रेम और परम अनुरक्ति हो सकती है।[19]

अन्य महाव्याहृतियों में भी इसी प्रकार ईश्वर की स्तुति है और सवितुः, देवस्य, वरेण्यं और भर्गः ईश्वर के विभिन्न गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन कर रहे हैं जो स्तुति ही है।

"'वरेण्यं' अत्यन्त ग्रहण करने योग्य अर्थात् अनन्य भक्ति के योग्य" के भाव को प्रकट करते हुए स्वामी समर्पणानन्द जी ने कहा है[20] कि–पूर्ण रूप से धारण किया गया तब समझना चाहिए जब वह स्वादुतम अन्न के समान आग्रहपूर्वक वरण करके खाया जाए (अर्थात् अनन्य प्रेम = परम अनुरक्ति) जो अन्न-खिन्न मन से जैसे-तैसे गले के नीचे उतार लिया जाता है वह 'धकेलेन्यम' भले ही हो 'वरेण्यम्' नहीं कहला सकता। वह स्वाद भी साधारण नहीं अलौकिक हो जिसे 'तत्' कहकर अनिर्वचनीयता का रूप दे दिया जाए।[21]

'धीमहि' में तो स्पष्ट ही प्रेम भक्ति का आदेश है।

'धियो यो नः प्रचोदयात्' ये दोनों ही समर्पणात्मक और शरणागति को ध्वनित करते हैं। जहाँ कहा गया है कि हम धारण करते हैं और यह धारण किया गया हमारी बुद्धि और कर्मों को उत्तम प्रेरणा करें।[22]

सामवेद में एक मंत्र है–

इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न।
अस्य सुतस्य स्वा३र्नोपि त्वा मदाः सुवाचोअस्थु।।[23]

अर्थात् हे जीवात्मन्! अपने अन्तःकरण को नवीन सुन्दर द्यौ के समान मधु से भर, इसके आनन्द से तुझे सुप्रसन्नताएँ प्राप्त हों। यहाँ प्रेम भक्ति करने का उपदेश प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अनन्य भक्ति के लिए कहा गया है–

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।[24]

अर्थात् हे भक्त वत्सल प्रभु! हम तो आप के मधुर मिलन के लिए ही इस मन को अपने तन में धारण कर रहे हैं।

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः।।[25]

हे प्राणधन! अब तो मैं आपकी भव-भय हारिणी पावन भक्ति द्वारा तुझमें इतना तन्मय हो गया हूँ कि मैं तू बन गया, और तू मैं बन गया हूँ।

उत स्वया तन्वा३सं वदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्।।[26]

हे प्रभु! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तेरी प्रेममयी गोद में बैठकर तुझसे मधुर वार्तालाप करुँगा। हे अन्तर्यामिन्! कब मैं तेरे दिव्य स्वरूप में इतना लवलीन हो जाऊँगा कि अपनी सुधबुध भूल जाऊँगा। नाथ! कब आप मेरे हृदय मन्दिर के द्वार पर स्वयं आकर निःशंकरूप से मेरी भेंट स्वीकार करोगे। हे प्रभु! वह कौन सी शुभ घड़ी होगी, जब मैं अपने शुद्ध, पवित्र और निर्मल अन्तःकरण द्वारा तेरे मंगलमय परमानन्द स्वरूप के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाऊँगा, और अपने को धन्य समझूँगा।

यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मय इवापो न तृष्यते बभूथ।
तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।।[27]

हे इन्द्र! जैसे तू पूर्व के सभी भक्तों के लिए प्रेमरस के प्यासों के लिए जल के समान सुखदायक होता है। मैं तुझको उसी भक्तिभाव से बार-बार पुकारता हूँ, जिससे हम पाप वारण बल व जीवन विज्ञान को प्राप्त कर लें।

स्वामी वेदानन्द जी ने इस मंत्र की व्याख्या में कहा है कि "प्यास सता रही है। जल मिलते ही वह शान्त हो जाती है। प्यासे को तो जल ही अमृत है, प्यासे को वस्त्र दो नहीं लेगा, प्यासे को भोजन दो नहीं लेगा। वस्त्र और भोजन उपयोगी हैं परन्तु प्यास नहीं बुझा सकते। अतः प्यासे के लिए ये सुखदायी नहीं। इसी प्रकार यहाँ भक्त उसी भक्ति भावना से, प्रेमाभक्ति से, परम अनुरक्ति के वशीभूत संसार ताप से झुलस कर शान्ति के लिए पुकार रहा है।[28] अनन्य प्रेम को प्रदर्शित करते वेद के कुछ अन्य मंत्रों को देखिए–

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु।।[29]

यह प्रभु-प्राप्ति का रस अत्यन्त स्वादु है, अत्यन्त मधुर है, और अत्यन्त तीव्र अर्थात् तेज है। इतना तेज कि एक बार जिसको इस प्रभु-प्राप्ति के पावन रस का नशा चढ़ गया, फिर कभी उतरता नहीं। संसार के क्षणिक नशे तो थोड़ी देर तक रहते हैं। परन्तु यह नशा तो सदा ही बना रहता है।

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।[30]

अर्थात् (सम्राजे) जो सबका सम्राट् है (श्रुताय) जिसकी महिमा सर्वत्र सुनायी दे रही है ऐसे (वरुणाय) सबके वरण करने योग्य और सबको बचाने वाले भगवान् के लिए (प्रियम्) प्यार से भरी (गभीरम्) गहरी (ब्रह्म) वेद विहित-स्तुति (बृहत्) खूब (प्र-अर्च) अच्छी तरह गा।

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।[31]

अर्थात् हे (स्वधावः) शक्तिशाली और अन्नदाता (वरुण) वरणीय भगवन् (तुभ्यम्) तेरे लिए (अयम्) यह मेरी (स्तोम) भक्ति (हृदि) तेरे हृदय में (सु) अच्छी तरह (उपश्रितश्चित्) प्राप्त (अस्तु) होवे।

आधुनिक काल के वेदभाष्यकार शिरोमणि महर्षि दयानन्द का पुनीत जीवन प्रभु प्रेम से ओत-प्रोत था। ईश्वर की भक्ति में वे सदैव अनन्यचित्त होकर लगे रहते थे। ऋषि ने अपनी रचनाओं में जितना भगवद्-भक्ति पर बल दिया है, उतना शायद ही किसी अन्य विषय पर दिया हो। उनके सभी ग्रन्थ भगवद् भक्ति से भरे हुए हैं।[32] उन्होंने अपने वेदभाष्य में वेद मन्त्रों के भक्ति परक अर्थ करते हुए ईशगुणगान किया है।[33] उतना किसी अन्य किसी वेदभाष्यकार ने नहीं किया। महर्षि ने मनुष्यों में भगवद् भक्तिभाव की अमृतदायिनी धारा प्रवाहित करने के लिए वेदमंत्रों पर आधारित एक ग्रन्थ लिखा है।[34] उसमें वेद मंत्रों में प्रभु प्रेम, अनन्य भक्ति व परम अनुराग के दिग्दर्शन सहज हैं[35]–

1. **यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।**
   त्वेत्तत्सत्यमंगिरः।।[36]

   हे अंग=मित्र! जो भक्त आपको आत्मादि दान करता है उसको भद्रम्=व्यवहारिक और पारमार्थिक सुख अवश्य देते हो। हे अंगिर=प्राणप्रिय! यह आप का सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना।[37]

2. **पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्।**
   इन्द्रं सोमे सचा सुते।।[38]

   हे परमैश्वर्यवान्! आपको प्रीतिपूर्वक हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें, यथावत् स्तुति करें।[39]

3. आपकी कृपा से हम विद्वानों वा दिव्यगुणों के साथ उत्तम प्रीतियुक्त हों, आप में रमण और आप का सेवन करने वाले हों।[40]

4. हे परमात्मन्! आपके बिना हमारा कल्याण करने वाला और कोई नहीं। प्रभो! हमको आपका ही सब प्रकार से भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे।[41]

5. हम लोग आपकी ही अत्यन्त स्पर्धा अर्थात् प्राप्ति की इच्छा करते हैं सो आप सब शीर्घ हमको प्राप्त होओ, जो प्राप्त होने में आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे, तो हमारा

कुछ भी कहीं ठिकाना न लगेगा।[42]

परम वेदभक्त महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य की भूमिका के वेद विषय प्रकरण में "वेदों में कौन-कौन विषय किस-किस प्रकार के हैं?" इस प्रश्न का समाधान करते हुए उत्तर दिया है- वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं–(1) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों का यथार्थ जानना, (2) दूसरा कर्म, (3) तीसरा उपासना और (4) चौथा ज्ञान है। विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का करना, इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है सो भी दो प्रकार का है–एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन-कौन से पदार्थ किस प्रयोजन के लिए रचे हैं और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है।[43]

वेदों के प्रयोजन के सम्बन्ध में महर्षि ने इस अन्तिम तथ्य को इसी प्रकरण में अन्य स्थानों पर निम्न वाक्यों में प्रकट किया है–

- उसी (परमात्मा) की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं, उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है।
- चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिए विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।
- वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।
- इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है।
- वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है।[44]

इस प्रकार वेदों में भक्ति अथवा उपासना के सभी प्रकार के अंगों-नवधा भक्ति, प्रेम लक्षणा भक्ति, गौणी भक्ति, पराभक्ति, ज्ञान रूपाभक्ति, परम साधन स्वरूपा भक्ति, समर्पण, अनन्य भक्ति, शरणागत, स्तुति, प्रार्थना और याचना आदि समस्त प्रकार की भक्तियों का समावेश व प्रतिपादन भगवत् प्राप्ति के लिए सुगमता से प्राप्त हो जाता है। परन्तु ध्यान रखने योग्य मुख्य तथ्य यह है कि इस भक्ति का जो उद्देश्य है उसके पीछे क्या दार्शनिक रहस्य है जो भक्ति के मनोभाव (भावना) का निर्माण करता है?

आज जो भक्ति नारद भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, श्रीमद्भागवत, विष्णु पुराण आदि ग्रन्थों में प्राप्त होती है उसका दार्शनिक आधार शांकर वेदान्त है। इसी कारण इसकी भावना ब्रह्म जीव ऐक्य भाव, **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** पर आश्रित है। जिसमें जीव अपनी स्वाभाविक निर्विकारता व निर्मलता को प्राप्त होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है जिसका वह अंश है। भक्ति का उद्देश्य यहाँ मोक्ष होते हुए भी दार्शनिक रूप से पृथक् होने के कारण वैदिक भक्ति से भिन्न भावना वाली है।

शांकर वेदान्त से अनुप्राणित इस भक्ति के सम्बन्ध में दार्शनिकों ने अनेक प्रश्न उठाए हैं।[45] यथा–

1. भक्ति की आवश्यकता जीव को है अथवा ईश्वर को?
2. ईश्वर आनन्द स्वरूप है तो भक्ति द्वारा ईश्वर का प्रसन्न होना निरर्थक है? ईश्वर यदि आनन्दस्वरूप है तो उसका प्रसन्न होना नहीं हो सकता क्योंकि प्रसन्न वह होगा जिसमें प्रसन्नता की कमी हो।
3. जीव ईश्वर का अंश है तो ईश्वर को क्या सूझी कि सृष्टि बनाकर जीव का निर्माण करे?

1. सृष्टि के निर्माण का उद्देश्य व केंद्र कौन है?

वेदों से अनुप्राणित भक्ति विशिष्ट और सार्वभौमिकता ग्रहण किए हुए है। उपर्युक्त प्रश्न वैदिक भक्ति पर कोई प्रभाव नहीं डालते क्योंकि इसका आधार त्रैतवाद जैसा वेदानुमोदित दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार तीन अनादि सत्ता हैं–ईश्वर, जीव व प्रकृति। ऋग्वेद का मंत्र है[46]–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

अर्थात् जो ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालनादि गुणों से कुछ सदृश व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त आपस में परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं, और वैसा ही अनादि मूल रूप कारण और शाखा रूप कार्य युक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ; इन तीनों के गुण, कर्म व स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से जो जीव इस वृक्ष रूप संसार में पाप पुण्य रूप फलों को अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों 'अनादि' हैं।[47]

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के पहले मंत्र में भी यही भावना प्रकट हुई है[48]–

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

यहाँ ईश्वर से व्याप्त जगत् और त्यागपूर्वक उसको जीव द्वारा भोगने का उपदेश देकर वेद ने स्पष्ट रूप से ईश्वर, जीव व प्रकृति के अनादित्व व पृथक्-पृथक् सत्ता को प्रकट कर दिया है।

त्रैतवाद के अन्तर्गत जगत् के तीन कारण होते हैं–एक निमित्त-Efficient, दूसरा उपादान-Material, तीसरा साधारण-Ordinary। निमित्त कारण उसको कहते हैं कि

जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर से बना देवे। दूसरा उपादान कारण उसको कहते हैं जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगड़े भी। तीसरा साधारण कारण उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।[49]

सृष्टि के बनने में निमित्त कारण दो हैं–एक सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमिक्त कारण – परमात्मा। दूसरा परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनाने वाला 'साधारण निमित्त कारण' जीव। उपादान कारण–'प्रकृति' 'परमाणु' जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से आप से आप न बन और न बिगड़ सकता है। किन्तु दूसरे के बनाने से बनता और दूसरे के बनाने से बिगड़ता है। कहीं कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ जाता है, जैसे परमेश्वर से रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार होता है और अग्नि आदि जड़ के संयोग में बिगड़ भी जाते हैं। परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना व बिगड़ना परमेश्वर और जीव के अधीन है। जब कोई वस्तु बनाया जाता है तब जिन–जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार के औजार और दिशा, काल और आकाश साधारण कारण। जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार निमित्त, मिट्टी उपादान और दण्ड, चक्र आदि निमित्त साधारण और निमित्त कारण भी होते हैं। इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नहीं बन सकता और न बिगड़ सकता है।[50]

वेद द्वारा ईश्वर ने इस त्रैतवाद को प्रकट किया है। इस दर्शन के प्रकाश में दर्शन शास्त्र की सभी समस्याओं का हल अत्यन्त सहजता से निकल आता है और सभी आक्षेपों को निर्मूल करके भक्ति की वैदिक भावना का सुन्दर व सुमधुर स्वरूप इस त्रैतवाद के प्रकाश में ही हो पाता है।

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी

1. भारतीय जीवन में भक्ति भावना का उद्भव कब–कैसे हुआ? इस पर वेबर, ग्रियर्सन, विंटरनित्ज, भंडारकर, क्षितिज मोहन सेन और हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने विचार करके विवाद उत्पन्न किया कि भारत में भक्ति का आविर्भाव विदेशी स्रोतों से हुआ अथवा भारतीय भूमि से।
2. दयानन्द सरस्वती–ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदनित्यत्वविषय, आर्ष सा.प्र.ट्र. दिल्ली
3. वही, पृष्ठ 28
4. सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा यजुर्वेद–7/14
5. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र–1/2/9
   विशेष–गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित शाण्डिल्यभक्तिसूत्र में यह 1/2/9 और इससे अगले सूत्र "पुराणेतिहासाभ्याञ्चेति" –1/2/10 और "पृथुध्रुवप्रह्लादऽम्बरीषशुकसनक

नारदभजनाचाराच्च" –1/2/11 नहीं मिलते। ये तीनों सूत्र नारायणकृत 'भक्तिचन्द्रिका' नामक शाण्डिल्यभक्तिसूत्र की टीका में प्राप्त होते हैं।

6. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र – 26
7. द्रष्टव्य – अध्याय – 3
8. दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास, परोपकारिणी सभा अजमेर 37वां संस्करण, पृष्ठ 163
9. सामवेद मंत्र संख्या 1300
10. ऋगर्चनी अर्थात् ऋक् अर्चनी = स्तुति वाली है – निरुक्त 7/1
11. स्नेहयुक्त पदार्थों का प्रत्येक अणु एक दूसरे से अत्यन्त अनुराग रखता है। इसी अनुराग के कारण वे एक दूसरे से मिले रहते हैं। द्रष्टव्य – वेद प्रवचन –पं. गंगा प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ 185, वैदिक साहित्य सदन दिल्ली, 1997 ई.
12. सत्यार्थ प्रकार प्रथम समुल्लास, पृष्ठ 13
13. "गायत्रं गायते: स्तुति कर्मण:" अर्थात् गायत्र गायति (गाने) से है, स्तुति कर्म से है। दूसरे अर्थ में गायत्री और स्तुति परस्पर पर्याय हैं। निरुक्त – 1/7
14. यह मंत्र ऋग्वेद–3/62/10, यजुर्वेद–3/35, 22/9, 30/2, 36/3 सामवेद – 1462 में है।
15. यह मंत्र का भाग नहीं है।
16. ये महाव्याहृतियां यजुर्वेद – 36/3 में ही हैं। अन्य स्थानों पर इनके बिना ही यह वेद मंत्र प्राप्त होता है।

* तैत्तिरीयोपनिषद् – शिक्षावल्ली – 5/3

17. महर्षि दयानन्द सरस्वती, पञ्चमहायज्ञविधि, पृष्ठ – 9 वैदिक यन्त्रालय अजमेर से लिया गया है।
18. महामंत्र, महात्मा आनन्द स्वामी, पृष्ठ 67
19. तुलना करें– सा परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र – 2
    सा त्वस्मिन् प्रेमरूपा। नारद भक्ति सूत्र – 2
20. गायत्री मंत्र की इतनी महत्ता क्यों? पृष्ठ 3
21. तुलना करे– अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।
    मूकास्वादनवत्। नारद भक्तिसूत्र – 51 व 52
22. तुलना करें– यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतोभवति, तृप्तोभवति।
    यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।
    नारद भक्तिसूत्र 4 व 5
23. क्रमांक – 953
24. ऋग्वेद – 10/57/6
25. तदेव – 8/44/23
26. तदेव – 7/86/2
27. तदेव – 1/175/6
28. स्वाध्याय सन्दोह, घुडमल प्रह्लादकुमार धर्मार्थ न्यास हिण्डौन सिटी (राज.) 20121, पृष्ठ 115

29. ऋग्वेद - 6/47/1
30. तदेव - 5/85/1
31. तदेव - 7/86/8
32. द्रष्टव्य - सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पंचमहायज्ञविधि, संस्कारविधि आदि ग्रन्थ।
33. विस्तार के लिए वेदभाष्य का अवलोकन अपेक्षित है।
34. आर्याभिविनय, परोपकारिणी सभा अजमेर
35. प्रभुभक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक उपदेश, आचार्य भद्रसेन, घुडमल प्र.कु. धर्मा. न्या., पृष्ठ 36
36. ऋग्वेद - 1/1/6
37. आर्याभिविनय में प्रथम प्रकाश विनय संख्या - 6
38. ऋग्वेद - 1/5/2
39. आर्याभिविनय - प्रथम प्रकाश - विनय संख्या - 9
40. तदेव - प्रथम प्रकाश - विनय संख्या 18 का भाग
41. तदेव - द्वितीय प्रकाश - यजुर्वेद - 36/2 की विनय संख्या - 39
42. आर्याभिविनय - द्वितीय प्रकाश - यजुर्वेद - 23/19 की विनय - संख्या - 46
43. वेद विषय विचार, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ 31-32
44. वेदविषयविचार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, महर्षि दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 33, 34 जो लोग कहते हैं कि वेदों में भक्ति (उपासना) का वर्णन नहीं है। उनके लिए द्रष्टव्य है।
45. विशेष द्रष्टव्य - सत्यार्थ प्रकाश का सातवां, आठवां व नवां समुल्लास और पं. गंगा प्रसाद उपाध्याय कृत पुस्तक आस्तिकवाद, घुडमल प्र.कु.धर्मा.न्यास.
46. 1/164/20, इसी मण्डल का 44वां मंत्र भी स्पष्ट रूप से ईश्वर, जीव व प्रकृति के अनादित्व को प्रकाशित कर रहा है। इनके अतिरिक्त वेद का प्रत्येक मंत्र इन तीन अनादि सत्ताओं का वर्णन करता है।
47. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, महर्षि दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 188
48. इस विषय में श्वेताश्वतरोपनिषद् - 4/5 अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां .....। और सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति .....। सांख्य सूत्र - 1/61 भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
49. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, महर्षि दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 190
50. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, महर्षि दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 190-191

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (97-102) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

कालतत्त्वों का मिथकीय स्वरूप : यजुर्वेदीय ब्राह्मणों के सन्दर्भ में

–डॉ. अपर्णा धीर
असिस्टैंट प्रोफेसर,
इन्स्टिट्यूट ऑफ ऐड्वान्स्ट साइन्सीस,
डार्टमोथ, यू.एस.ए

'मिथक' शब्द का अर्थ

'मिथक' शब्द आधुनिक युग की देन है। इसी कारण संस्कृत भाषा और साहित्य में मिथक के लिए 'मिथस्' अथवा 'मिथ' रूप मिलते हैं, जिनका अभिप्राय मिथ्या या असत्य वचन से है। वस्तुतः हिन्दी भाषा में मिलने वाला 'मिथक' शब्द आंग्ल भाषा में 'मिथ' के रूप में प्रचलित है। यह आप्त वचन, पौराणिक कथा, आख्यात्मक कथा, कल्प कथा, लोकमान्यता, परम्परानुमोदित कथा, धार्मिक निष्ठा आदि का द्योतक रहा है।

'मिथक' की परिभाषा

ऐसा माना जा सकता है कि आदिकाल में मानव के चित्त की अनेक अनुभूतियाँ ही मिथक के रूप में परिणत हुई। प्राचीन विद्वानों ने मिथक से अभिप्राय प्राकृत घटनाओं एवं भावों से सम्बन्धित परम्परागत कथा से लिया है। मनीषियों के अनुसार मिथक की रचना उस समय हुई जब मानव और प्रकृति परस्पर सहयोग से जीवन के सहभागी थे। तत्कालीन समाज में मनुष्य प्रकृति की घटनाओं को अपने जीवन की घटनाओं तथा अनुभवों के माध्यम से समझने का प्रयास करता था। प्रकृति के तत्त्वों और घटनाओं के मानवीकरण की यह अचेतन प्रक्रिया ही मिथक–रचना का मूल है।

वेदों में मिथक का स्वरूप

मिथक को सत्य का समानधर्मा माना गया है। गवेषणा के आधार पर यह तथ्य सिद्ध हो चुका है कि मिथक साहित्य मात्र काल्पनिक नहीं है अपितु लौकिक एवं अलौकिक तथ्यों से आपूरित है। इस दृष्टि से वैदिक ऋषियों ने मिथक की कल्पना द्वारा रहस्यात्मक, लाक्षणिक और विलक्षणता से परिपूर्ण व्यापक तथ्यों का प्रतिपादन किया है। वैदिक वाङ्मय

मिथकों के प्राचुर्य का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, जिसमें समस्त प्राकृतिक तत्त्व चैतन्य एवं दिव्य रूप में दर्शाये गये हैं।

आदिकाल से ही मानव प्रकृति के साथ ऐक्य स्थापन हेतु सतत प्रयत्नशील रहा है। मानव और प्रकृति के तादात्म्य एवं समीकरण ही मिथक-रचना का प्राणतत्त्व हैं। इस प्रकार मिथक के प्रति आकृष्ट होना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस मिथकीय चेतना को प्रतिभाशाली रचनाकार अपने कल्पना के सामंजस्य से जागृत करते हैं। प्राकृतिक घटनाओं से सम्बन्धित मानवीकरण की प्रक्रिया, वैदिक आख्यानों के माध्यम से जो अभिव्यक्त है, वही मिथक की प्रारम्भिक अवधारणाएँ कहलाती हैं। ऋग्वेद से आधुनिक युग तक भारतीय साहित्यकारों एवं चिन्तकों ने मिथकीय चेतना का परिचय यत्र-तत्र प्रस्तुत किया है।

यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में मिथक का स्वरूप

मन्त्रों के अर्थ स्वभावतः सुन्दरता के साथ सहृदयों द्वारा ग्राह्य बनाने के लिए वैदिक कवियों ने काव्यात्मक शैली में मानवीकरण को सोपान के रूप में अपनाया है। काव्य में प्रकृति-चित्रण की एक विधा प्रकृति की वस्तुओं का मानवीकरण है। उपर्युक्त चर्चा अनुसार प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण ही मिथक कहलाते हैं। वेदों में अनेक ऐसे तथ्य हैं, जहाँ शिक्षा देने के उद्देश्य से जड़-जगत् का इस प्रकार से वर्णन किया जाता है कि वह जड़ पदार्थ मानव के समान अथवा चेतन प्राणियों के समान सजीव लगे।

मानवीकरण की इस प्रवृत्ति को शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण और कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनेक सन्दर्भों में देखा जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थ प्रधानतः यज्ञानुष्ठान का प्रतिपादन करते हैं। यह सर्वविदित है कि यज्ञ का सफल सम्पादन उचित काल-निर्णय पर आधारित होता है। यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में प्राकृतिक-कालतत्त्वों के निरूपण हेतु आलङ्कारिक वर्णन में मानवीकरण की विधा दर्शनीय है। मानवीकरण की उपरोक्त प्रवृत्ति को निम्न काल-तत्त्वों के विस्तृत अध्ययन द्वारा जाना जा सकता है -

सूर्य

सूर्य के स्वरूप, गति आदि को स्पष्ट करने हेतु यजुर्वेदीय ब्राह्मणकालीन ऋषि के द्वारा मानवीकरण की पद्धति अपनाई गई है। कथित है कि सूर्य रूपी बालक अपनी शक्ति से (अन्तरिक्ष में) पूर्व-पश्चिम घूमता अथवा क्रीड़ा करता है। कुछ अन्य मन्त्रों में सूर्य की गति का संकेत करते हुए वर्णित है कि यह अश्व रूपी सूर्य द्युलोक की पीठ पर स्थित रहकर विचित्र गति से युक्त मानों द्यावापृथिवी रूपी दोनों लोकों का चक्र लगाता है। इस प्रकार जहाँ सूर्य के उदय-अस्त की अवस्था की कल्पना बालक, अश्व, सिंह आदि के रूप में करके ऋषि ने सूर्य में चेतनता का आभास कराया है। उसी प्रकार सूर्य की किरणों में भी चेतनता की कल्पना की है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में आदित्य मण्डल की रश्मियों को द्युलोक में सर्प के समान संचरण करने वाला बताया गया है।

संवत्सर

संवत्सर का काल-चक्र में वही स्थान है, जो मनुष्य का प्रकृति-चक्र में। इस दृष्टि से पुरुष और संवत्सर में समानता दिखाते हुए शतपथ ब्राह्मण में कल्पना की गई है कि पुरुष संवत्सर है -

क्रम-संख्या	**संवत्सर**	**पुरुष**
1.	एक है (संवत्सर)	एक है (पुरुष)
2.	दो दिन-रात	दो प्राण
3.	तीन ऋतु	तीन प्राण
4.	चार अक्षर (संवत्सर)	चार अक्षर (यजमान)
5.	पाँच ऋतु	पाँच प्राण
6.	छः ऋतु	छः प्राण
7.	सात ऋतु	सात प्राण
8.	बारह मास	बारह प्राण
9.	तेरह मास	बारह प्राण + तेरहवीं नाभि
10.	चौबीस अर्धमास	चौबीस भाग (बीस अंगुलियाँ + चार हाथ-पाँव)
11.	छब्बीस अर्धमास	छब्बीस भाग (बीस अंगुलियाँ + चार हाथ-पाँव + दो पैर)
12.	तीन सौ साठ रातें	तीन सौ साठ हड्डियाँ
13.	तीन सौ साठ दिन	तीन सौ साठ मज्जा
14.	सात सौ बीस दिन-रात	सात सौ बीस (हड्डियाँ + मज्जा)

इस प्रकार ऋषि ने संवत्सर के विविध अङ्गों को मनुष्य के शरीर के भीतर माना है। संवत्सर के प्रत्येक अवयव के महत्त्व को उपरोक्त कल्पना द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

मास

संवत्सर और मास के घनिष्ठ सम्बन्ध को भी मानवीकरण-शैली द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मणों में स्पष्ट किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में संवत्सर को एक बड़ी चील के रूप में कल्पित कर पहले छह मासों को उसका एक पंख और अगले छह मासों को उसका दूसरा पंख कहकर संवत्सर में बारह मासों की स्थिति को दर्शाया गया है। इन ग्रन्थों के रोचक दृष्टान्त में संवत्सर के तेरहवें मास की तुलना साँड के कुब्बड़ से की गई है। अतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार साँड का ऊपर की ओर निकला हुआ कुब्बड़ साँड के

शरीर का भाग होते हुए भी उसके शरीर की सीमा से बाहर होता है, उसी प्रकार संवत्सर रूपी ऋषभ या साँड के शरीर की सीमा बारह मास की है परन्तु कभी-कभी कुब्बड़ के रूप में तेरहवाँ मास निकल आता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि ऋषि ने संवत्सर के बारह मासों एवं अधिमास की चर्चा में मानवीकरण को आधार बनाया है।

ऋतु

यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋतुओं के वर्णन में मानव-शरीर एवं पक्षी-शरीर के अङ्गों को आधार बनाया गया है।

शतपथ ब्राह्मण में वर्णित ऋतु-वर्गीकरण

ऋतुएँ

	वसन्त	**ग्रीष्म**	**वर्षा**	**शरद्**	**हेमन्त**	**शिशिर**
मानव-शरीर के अङ्ग	पैर	पैर से ऊपर और कमर के नीचे	कमर	कमर	कमर से ऊपर और सिर के नीचे	सिर
	लोम	त्वचा	मांस	अस्थि	मज्जा	-
पक्षी-शरीर के अङ्ग	सिर	दक्षिण पक्ष	उत्तर पक्ष	मध्य	पुच्छ	पैर

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित ऋतु-वर्गीकरण

ऋतुएँ

	वसन्त	**ग्रीष्म**	**वर्षा**	**शरद्**	**हेमन्त**	**शिशिर**
पक्षी-शरीर के अङ्ग	सिर	दक्षिण पक्ष	पुच्छ	उत्तर पक्ष	मध्य	-
	-	-	उत्तर पक्ष	पुच्छ	-	-

चन्द्र

चन्द्रमा यद्यपि प्रत्यक्षतः काल-तत्त्वों के अन्तर्गत नहीं आता तथापि अमावस्या-पूर्णमासी जैसी तिथियों एवं शुक्ल-कृष्ण जैसे अर्धमासों (पक्ष) के निर्धारण में मुख्य भूमिका रखता है। चन्द्रमा के विषय में भी मानवीकरण-पद्धति का कथन है। शतपथ ब्राह्मण में चन्द्रमा को प्रजापति की आँखे माना गया है। किसी-किसी वाक्य में चन्द्रमा को स्वयं प्रजापति स्वीकार किया है। चन्द्रमा की चंचलता को बताने के लिए वैदिक ऋषि ने चन्द्रमा की कल्पना संवत्सर रूपी पक्षी के मन के रूप में की है। शतपथ ब्राह्मण में एक अन्य वाक्य में चन्द्रमा को शरीर का प्राण कहा है। इस प्रकार अपने कथन द्वारा ऋषि इङ्गित करते हैं कि जिस प्रकार शरीर की समस्त व्यवस्था उसमें स्थित प्राण पर निर्भर करती है, उसी प्रकार चन्द्रमा को काल-चक्र की व्यवस्था को चलायमान रखने के लिए महत्त्वपूर्ण जानना चाहिए।

पूर्णमासी / अमावस्या तथा अहोरात्र

जिस प्रकार मानव-शरीर की गति स्वस्थ जोड़ों पर निर्भर करती है, उसी प्रकार काल-चक्र की गति भी पूर्णमासी / अमावस्या तथा अहोरात्र पर केन्द्रित होती है। इस तथ्य की ओर सङ्केत करते हुए शतपथ ब्राह्मणकालीन ऋषि ने रात-दिन (अर्थात् अहोरात्र) की सन्धियों एवं पूर्णमासी तथा अमावस्या को संवत्सर रूपी प्रजापति के शरीर के जोड़ माना है।

नक्षत्र

यद्यपि नक्षत्र प्रधानत: काल-तत्त्वों के अन्तर्गत नहीं आते तथापि चन्द्रमा द्वारा सम्पूर्ण 27 नक्षत्रों को भोग लेने के पश्चात् ही मास-चक्र चलता है तथा सूर्य द्वारा सम्पूर्ण 27 नक्षत्रों को भोग लेने के पश्चात् ही संवत्सर-चक्र चलता है। इस दृष्टि से नक्षत्र काल को प्रभावित करते हैं। नक्षत्रों की आकृति विषयक कुछ समाग्री यहाँ प्राप्त होती है, जहाँ मानवीकरण किया गया है। जैसे तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों की आकृति को प्रजापति स्वरूप मानकर बताया गया है कि नक्षत्र रूपी प्रजापति का चित्रा सिर, हस्त हाथ, स्वाती हृदय, विशाखा जंघा तथा अनुराधा पाद है। इसी प्रकार का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में भी आया है परन्तु यहाँ मृगशीर्ष नक्षत्र को सभी नक्षत्रों में श्रेष्ठ मानकर, प्रजापति का सिर कहा गया है।

विषुवत्

विषुवत् सम काल (दिन-रात) के रूप में जाना जाता है। अभिप्राय यह है कि संवत्सर अर्थात् वर्ष में दो दिन (दो बार) जब सूर्य विषुवत्-वृत अथवा भूमध्यरेखा पर होता है, तब पृथ्वी पर दिन और रात्रि समान अवधि के होते हैं। विषुवत्-दिन का सम्बोधन संवत्सर रूपी चील के शरीर के रूप में करके संवत्सर के छह मास उसका एक पंख और दूसरे छह मास उसका दूसरा पंख माने गये हैं। यहाँ विषुवत्-दिन की कल्पना चेतन शरीर के रूप में की गई है।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्राकृतिक रूप में उपलब्ध काल-तत्त्वों के वर्णन में नवीनता एवं सजीवता परिलक्षित होती है। जिससे काल-तत्त्व न केवल सरलता से ज्ञात होते हैं अपितु काल-चक्र में उनकी महत्ता का भी ज्ञान होता है। उपरोक्त शोध-पत्र में सूर्य का बालक, सिंह, अश्व के रूप में; संवत्सर का चील, पुरुष के रूप में; ऋतु का मानव एवं पक्षी के शरीराङ्ग के रूप में; मास का पक्षी के पंख, सांड के कुब्बड़ के रूप में; चन्द्र का आँख, मन, प्राण के रूप में; पूर्णमासी-अमावस्या का शरीर के जोड़ के रूप में; अहोरात्र का पक्षी के पंख, शरीर के जोड़ के रूप में; नक्षत्र का मानव-शरीराङ्ग के रूप में; तथा विषुवत्-दिन का चेतन शरीर के रूप में चित्रण किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में काल-तत्त्वों एवं चेतन प्राणियों के अन्तर्सम्बन्ध वैदिक ऋषि की मिथकीय चेतना को प्रतिपादित करते हैं।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. पूर्वापरं चरतो माययैतौ....ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः।। तै. ब्रा. (तैत्तिरीय ब्राह्मण) 2.7.12.2
2. ये रोचने सूर्यस्यापि सर्पाः। ये दिवं देवीमनुसंचरन्ति। तै. ब्रा. 3.1.1.6
3. पुरुष इत्येकं संवत्सर इत्येकमत्र....च मज्जानश्चात्र तत्सम। श. ब्रा. (शतपथ ब्राह्मण) 12.3.2.1-4
4. पुरुषो वै संवत्सरः। श. ब्रा. 12.2.4.1, 12.3.2.1
5. अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव संवत्सरः....। श. ब्रा. 12.2.3.7
6. यत्संवत्सरस्तस्य त्रयोदशी मासो विष्टपमृषभ एष यज्ञानां....। श. ब्रा. 13.1.2.2; यत्संवत्सरः। तस्य त्रयोदशी मासो विष्टपम्। ऋषभ एष यज्ञानाम्....। तै. ब्रा. 3.8.3.3
7. पञ्च तनवो व्यस्रंसन्त लोम त्वचांसमस्थि मज्जा....व्यस्रंसन्तऽर्तवस्ते पञ्च वाऽऋतवः। श. ब्रा. 6.1.2.17-18,
...प्रतिष्ठाऽअस्य वसन्त ऋतुर्यदूर्ध्व...शिरोऽस्य शिशिर ऋतुरेवमिमे....। श. ब्रा. 13.6.1.11
8. तस्य वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः। वर्षाः पुच्छम्। शरदुत्तरः पक्षः। हेमन्तो मध्यम। तै. ब्रा. 3.10.4.1, 3.11.10.4, तस्य वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः। वर्षाः उत्तरः। शरत्पुच्छम्। तै. ब्रा. 3.11.10.3; संवत्सर एवाग्निस्तस्य वसन्तः शिरो ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षो वर्षाः उत्तरः। शरदतुर्मध्यात्मा हेमन्तशिशिरावृतू पुछं प्रतिष्ठा. .....। श. ब्रा. 10.4.5.2
9. .....सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी...। श. ब्रा. 7.1.2.7
10. ...प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः...। श. ब्रा. 6.1.3.16, 6.2.2.16
11. ...मनश्चन्द्रमाः..। श. ब्रा. 10.4.5.2, ...मनसा चन्द्रेण...। श. ब्रा. 14.6.1.7
12. श. ब्रा. 14.4.3.20
13. स वै संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयोः संधी पौर्णमासी चामावास्या....। श. ब्रा. 1.6.3.35
14. यो वै नक्षत्रियं प्रजापतिं वेद। उभयोरेनं लोकयोर्विदुः। हस्त एवास्य हस्तः। चित्रा शिरः। निष्टया हृदयं। ऊरू विशाखे। प्रतिष्ठानुराधाः। एष वै नक्षत्रियः प्रजापतिः। तै.ब्रा. 1.5.2.2
15. मृगशीर्षऽग्नीऽआदधीत। एतद्वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्ष श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽऽर्धस्यश्रेष्ठो भवत्य। श. ब्रा. 2.1.2.8
16. अथ ह वाऽएष महासुपर्णा एव यत्संवत्सरः। तस्य यान्पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति....। श. ब्रा. 12.2.3.7

* मिथक-विषयक जानकारी हेतु यहाँ पशुपतिनाथ उपाध्याय द्वारा लिखित पुस्तक, **मिथकीय समीक्षा**, ग्रन्थायन, सर्वोदय नगर, अलीगढ़, 2001 को आधार बनाया गया है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (103-107) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

प्राणायाम की अवधारणा

–संयोगिता

शोधार्थिनी, योग विज्ञान
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय

प्राण तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जहाँ भी क्रिया है, वहीं प्राण है। प्राण के अभाव में शरीर निर्जीव हो जाता है। माता के गर्भ में भी भ्रूण में प्राणतत्त्व विद्यमान होता है। तभी वह विकास करता हुआ बालक का रूप धारण करता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त शरीर में प्राण का संचरण होता रहता है। जिसके कारण प्राणी को जीवित कहा जाता है। प्राणशक्ति अथवा जीवनीशक्ति के निकलते ही शरीर को मृत घोषित कर दिया जाता है। हमारे अन्नमयकोश की शुद्धि प्राणायाम के द्वारा होती है। हमारे शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति का आधार भी प्राण ही है। सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थियों, हृदय, फेफड़ों, मस्तिष्क एवं मेरुदण्ड सहित सम्पूर्ण शरीर को प्राण ही स्वस्थ एवं ऊर्जावान् बनाता है। प्राणिक ऊर्जा से ही आँखों में दर्शन शक्ति, कानों में श्रवण शक्ति, नासिका में घ्राण शक्ति, वाणी में सरसता, मुख पर आभा, ओज व तेज, मस्तिष्क में ज्ञानशक्ति व उदर में पाचन शक्ति विद्यमान है।[1] इसलिये उपनिषद् के ऋषि ने भी कहा है–

"प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च"। प्राणस्येदं वशे सर्वं यत् त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान् रक्षस्वश्रीश्च प्रज्ञां च विधेहिन इति।"[2] अर्थात् 'पृथिवी', 'द्यु' तथा 'अन्तरिक्ष' इन तीनों लोकों में जो कुछ भी है, वह सब प्राण के वश में है। हे प्राण! जैसे माता स्नेहभाव से पुत्रों की रक्षा करती है, ऐसे ही तू हमारी रक्षा कर हमें श्री तथा प्रज्ञा प्रदान करें।

प्राणायाम के विषय में स्वामी रामदेव जी अपनी पुस्तक प्राणायाम रहस्य में बताते हैं–'प्राण का आयाम ही प्राणायाम है हमारे शरीर में जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, सभी का प्राण से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध है। प्रतिक्षण जीवन और मृत्यु का जो अटूट सम्बन्ध मनुष्य के साथ है, वह प्राण के संयोग से ही है। संस्कृत भाषा में 'जीवन' शब्द 'जीव प्राणधारणे' धातु से बना है और 'मृत्यु' शब्द 'मृङ्, प्राणत्यागे' से। हमारे वेद, शास्त्र एवं उपनिषदों में प्राण की अनन्त महिमा गाई गई है।'[3]

अथर्ववेद में कहा है–**"प्राणापानौ मृत्योर्मा पात स्वाहा।"**[4] अर्थात् प्राण और अपान ये दोनों मेरी मृत्यु से रक्षा करें।

मनु महाराज प्राणायाम के विषय में कहते है-"दह्यन्ते **ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।**"[5] अर्थात् जैसे अग्नि आदि में तपाने से सुवर्ण आदि धातुओं के मल, विकार नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों एवं तन के दोष दूर होते हैं।

प्राणायाम के विषय में महर्षि पंतजलि लिखते है-"**श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**"[6] अर्थात् वायु को भीतर लेने और बाहर छोड़ने की स्वाभाविक गति को रोक देना प्राणायाम है। अर्थात् प्राणवायु को वश में करना।

व्यास जी प्राणायाम को इस प्रकार स्पष्ट करते है-"**सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। कौष्ठयस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः। तयोर्गति विच्छेद उभयाभावः प्राणायामः॥**"[7] अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर बाहर की वायु का नासिकापुट से भीतर ग्रहण करना श्वास है और उदर के वायु को नासिकापुट से बाहर निकलना प्रश्वास है। उन दोनों श्वास-प्रश्वास का अभाव होना प्राणायाम कहा जाता है।

गोरक्षशतक के अनुसार-

"**आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥**"[8] अर्थात् आसन से योगी को रजोगुण, प्राणायाम से पापनिवृत्ति और प्रत्याहार से मानसिक विकार दूर करना चाहिये।

'हठयोग प्रदीपिका' में प्राणायाम का वर्गीकरण करते हुए कहा है-"**सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छाप्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः॥**"[9] अर्थात् सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी-ये आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम है। इसके अतिरिक्त हठयोग के शास्त्रों में कुम्भक, नाड़ीशोधन और केवली प्राणायाम का वर्णन भी प्राप्त होता है। ये सभी प्राणायाम शारीरिक और मानसिक विकारों को दूर कर, उन्हें साधना के योग्य बनाते हैं।

'हठयोगप्रदीपिका' में कहा गया है-"**चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति, ततो वायुं निरोधयेत्।**"[10] अर्थात् जब यह प्राण वायु शरीर में तीव्र गति में रहता है, तब ऐसी स्थिति में चित्त भी चंचल बना रहता है। और जैसे यह प्राण वायु ठहर जाता है, तब चित्त भी स्थिर हो जाता है। जो योगी वायु का निरोध करता है, उसका शरीर हल्का और बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है-

महर्षि पतंजलि प्राणायाम का लाभ बताते हुए कहते हैं-"**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।**"[11] अर्थात् चित्त के ऊपर अज्ञानरूपी जो आवरण चढ़ा हुआ है, वह प्राणायाम के अभ्यास से नष्ट हो जाता है।

दूसरे सूत्र में महर्षि पंतजलि कहते हैं-"**धारणासु च योग्यता मनसः**"[12] अर्थात् प्राणायाम से चित्त की चंचलता दूर होकर, वह धारणा के योग्य हो जाता है।

योग दर्शन के अनुसार प्राणायाम चार प्रकार के हैं-

"ब्राह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥[13]
ब्राह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।"[14]

1. बाह्यवृत्ति प्राणायाम
2. आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम
3. स्तम्भवृत्ति प्राणायाम
4. बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम।

1. बाह्यवृत्ति प्राणायाम

प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालकर बाहर ही जितने काल तक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रहना और साथ ही साथ इस बात की भी परीक्षा करते रहना कि वह बाहर आकर कहाँ ठहरा है, कितने समय तक ठहरा है, और उतने समय में कितने स्वाभाविक प्राण की गति को कितनी संख्या होती है। यह 'बाह्यवृत्ति' प्राणायाम है, इसे 'रेचक' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें रेचन पूर्वक प्राण को रोका जाता है। अभ्यास करते-करते यह दीर्घ काल तक रुके रहने वाला और सूक्ष्म अर्थात् हलका अनायास साध्य हो जाता है।

2. आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम

प्राणवायु को भीतर ले जाकर भीतर ही जितने काल तक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रहना और साथ ही यह देखते रहना कि आभ्यान्तर देश में कहाँ तक जाकर प्राण रुकता है, वहाँ कितने काल तक सुखपूर्वक ठहरता है और प्राण की स्वाभाविक गति की कितनी संख्या होती है। यह 'आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम' है, इसे 'पूरक' प्राणायाम भी कहते हैं, क्योंकि इसमें शरीर के अन्दर ले जाकर प्राण को रोका जाता है। अभ्यास बल से यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

3. स्तम्भवृत्ति प्राणायाम

शरीर के भीतर जाने और बाहर निकलने वाली जो प्राणों की स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर निकलने या ले जाने का अभ्यास न करके प्राणवायु स्वभाव से बाहर निकली हो या भीतर गयी हो, जहाँ हो, वहीं उसकी गति को स्तम्भित कर देना और यह देखते रहना कि प्राण किस देश में रुके है, कितने समय तक सुखपूर्वक रुके रहते हैं, इस समय में स्वाभाविक गति की कितनी संख्या होती है, यह 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' है, इसे 'कुम्भक प्राणायाम' भी कहते हैं। अभ्यास बल से यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता है। कोई-कोई चौथे प्राणायाम को केवल कुम्भक कहते हैं।

4. बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम

महर्षि पतंजलि के प्राणायाम शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करने के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास भी करते हैं। **"बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।"** अर्थात् बाहर और भीतर के विषयों के चिन्तन का त्याग कर देने से अर्थात् इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं, या भीतर जा रहे हैं अथवा चल रहे हैं कि ठहरे हुए हैं, इस जानकारी का त्याग करके मन को इष्ट चिन्तन में लगा देने से देश, काल और संख्या के ज्ञान के बिना ही अपने आप जो प्राणों की गति जिस किसी देश में रुक जाती है, वह चौथा प्राणायाम है। यह पहले, बतलाये हुए तीन प्रकार के प्राणायामों से सर्वथा भिन्न है, यह बात दिखलाने के लिये सूत्र में चतुर्थः पद का प्रयोग किया गया है।

यह अनायास होने वाला राजयोग का प्राणायाम है। इसमें मन की चंचलता शान्त होने के कारण अपने-अपने प्राणों की गति रुकती है और पहले बतलाये हुए प्राणायामों में प्रयत्न द्वारा प्राणों की गति को रोकने का अभ्यास करते-करते प्राणों की गति का निरोध होता है, यही इसकी विशेषता है।[15]

प्राणायाम के लिये कुछ नियम इस प्रकार से हैं-

1. प्राणायाम शुद्ध सात्त्विक निर्मल स्थान पर करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो जल के समीप बैठकर अभ्यास करें।
2. शहरों में जहाँ प्रदूषण का अधिक प्रभाव होता है, उस स्थान को प्राणायाम से पहले घृत एवं गुग्गल द्वारा सुगन्धित कर लें। अधिक नहीं कर सकते, तो घी का दीपक जलायें।
3. प्राणायाम के लिये सिद्धासन, वज्रासन या पद्मासन में बैठना उपयुक्त है। बैठने के लिये जिस आसन का प्रयोग करते हैं, वह विद्युत् का कुचालक होना चाहिये। यथाः कम्बल या कुशा का आसन आदि।
4. श्वास सदा नासिका से ही लेना चाहिए। इससे श्वास फिल्टर होकर अन्दर जाता है। दिन में भी श्वास नासिका से ही लेना चाहिए। इससे शरीर का तापमान भी इडा, पिंगला नाड़ी के द्वारा सुव्यस्थित रहता है और विजातीय तत्त्व नासा-छिद्रों में ही रुक जाते हैं।
5. योगासन की तरह प्राणायाम करने के लिए कम से कम चार-पांच घण्टे पूर्व भोजन कर लेना चाहिए। प्रातःकाल शौचादि से निवृत होकर योगासनों से पूर्व प्राणायाम करें तो सर्वोत्तम है।
6. प्राणायाम करते समय मन शान्त एवं प्रसन्न होना चाहिये।
7. प्राणायाम करते हुए थकान अनुभव हो तो दूसरा प्राणायाम करने से पूर्व 5-6 सामान्य दीर्घ श्वास लेकर विश्राम कर लेना चाहिए।

8. गर्भवती महिला, रोगी व्यक्ति को प्राणायाम के साथ दी गई सावधानी का ध्यान रखते हुए प्राणायाम करना चाहिए।
9. प्राणायाम के दीर्घ अभ्यास के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करें। भोजन सात्त्विक एवं चिकनाई युक्त हो। दूध, घृत एवं फलों का प्रयोग हितकर है।
10. प्राणायाम से पूर्व कई बार 'ओ३म्' का लम्बा नादपूर्ण उच्चारण करना, और भजन-कीर्तन करना उचित है।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. प्राण साधना एवं योग रहस्य, स्वामी कर्मवीर जी, पृष्ठ-54
2. प्रश्नोपनिषद्, 2/3
3. प्राणायाम रहस्य, स्वामी रामदेव जी, पृष्ठ-14
4. अथर्ववेद
5. मनु-6/71
6. यो.सू., 2/49
7. यो.सू., व्या.भा.-1/49
8. गोरक्षशतक
9. हठयोग प्रदीपिका, 2/44
10. ह.प्र., 2/2
11. यो.द., 2/2
12. यो.द., 2/53
13. यो.द., 2/50
14. यो.द., 2/51
15. महर्षि पंतजलिकृत, योगदर्शन, गीताप्रेस गोरखपुर। पृ., 74, 75, 76

✦✦✦

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव। -अथर्व. 18.3.8
उठ, आगे बढ़, तेजी से आगे जा।

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन। -अथर्व. 18.3.64
ऋषियो! सर्वोच्च शिखर पर चढ़ जाओ, भय मत करो।

इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः। -अथर्व. 18.4.38
तू अतिवीर्यवान्, दीर्घायु और अजय्य होकर संसार में रह।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (108-111) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

देवतांशपरक राजधर्म : नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में

सलोनी

शोध-छात्रा, संस्कृत विभाग
गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

देवोपासना की प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता है। वेद जिसे कि विश्व का प्राचीनतम साहित्य होने का गौरव प्राप्त है, उसमें वैदिक ऋषियों ने देवताओं की स्तुति एवं उनकी स्वभावगत विशेषताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अतः सुख प्राप्ति के लिए देवता के मन को स्तुति के माध्यम से प्रसन्न करने की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है।[1]

वैदिक देवताओं की संख्या की बात करें तो मुख्य रूप से हमें 33 देवताओं[2] का उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है, जिनमें आठ वसुओं, एकादश रुद्रों, द्वादश आदित्यों, इन्द्र एवं प्रजापति की गणना की गई है।[3] वेदों में इन देवताओं को शासकीय शक्ति से शोभायमान भी वर्णित किया गया है।[4]

नीतिशास्त्र पर इन वैदिक देवताओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। आचार्य चाणक्य ने नीतिशास्त्र को राज्यतन्त्र का आधार[5] स्वीकार करते हुए राजा को नीति-शास्त्रानुसार राज्य-सञ्चालन का उपदेश दिया है।[6] नीतिशास्त्रीय राजधर्म का स्वरूप वैदिक देवताओं की स्वभावगत विशेषताओं से पूर्णतः प्रभावित है।

सर्वप्रथम यदि हम राजा की उत्पत्ति की ही बात करें, तो नीतिशास्त्र के कथनानुसार राजविहीन इस संसार में भय से त्रस्त एवं व्याकुल प्राणी जब चतुर्दिशाओं में आत्म रक्षा हेतु भाग रहे थे, तब ब्रह्मा जी ने इस संसार की रक्षा एवं प्रजापालन के लिए इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर जैसे अष्टलोकपालों की शक्तियों को संगृहीत कर पृथ्वीपालक राजा की सृष्टि की।[7] अतः नीतिशास्त्र के मत में राजा इन वैदिक देवताओं की विशेषताओं से सम्पन्न होना चाहिए।

नीतिशास्त्र राजा को मनुष्य के रूप में बहुत बड़ा देवता स्वीकार करते हुए[8] इसका न तो अपमान करने तथा न ही इसकी बात का उल्लंघन करने का निर्देश देते हैं।[9] शुक्रनीति का तो कहना है कि देवता तुल्य राजा की समता इस पृथ्वी पर कोई नहीं कर सकता।[10] पंचतन्त्रकार के कथनानुसार राजा में सभी देवताओं का वास होने पर भी उसकी यह विशिष्टता है कि उससे शुभ एवं अशुभ कार्यों का फल तत्काल मिल जाता है, जबकि

देवताओं से उस फल की प्राप्ति जन्मान्तर में होती है।[11]

शुक्रनीति में महर्षि शुक्राचार्य ने राजा को वैदिक देवताओं के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित किया है। ऋग्वेद में इन्द्र को भुजा में वज्र को धारण करने वाला, गतिशील तथा गतिहीन पदार्थों अर्थात् जंगम व स्थावर का शान्त स्वभावी प्राणियों एवं सींग धारण करने वाले प्राणियों का स्वामी कहा गया है। वह मनुष्य का राजा होकर निवास करता है[12] एवं प्रजाजनों को इस राजा के लिए अपना भाग (Tax) बढ़ाकर देने की बात कही गई है।[13]

इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए शुक्रनीति का कथन है कि जिस प्रकार इन्द्र अपने तपोबल से चराचर जगत् का स्वामी बनकर उनके अंशों का उपभोग करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजापालक बनकर प्रजा से कर ग्रहण करता है।[14]

ऋग्वेद में वायु को सर्वत्र गतिशील प्रतिपादित किया गया है[15] तथा यह अनेक वस्तुओं को प्रेरित करने वाला माना जाता है। तभी तो तर्कसंग्रह ग्रन्थ में इसे वृक्षादि के कम्पन का हेतु स्वीकार किया गया है।[16] शुक्रनीति का भी मानना है कि प्रजा के अच्छे एवं बुरे कर्मों का प्रेरक राजा ही होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे गन्ध का प्रेरक वायु देवता होता है।[17]

सूर्य देवता मित्र एवं वरुण के अर्थात् समग्र विश्व के देखने के लिए आकाश में अपने प्रकाश को प्रकट करके समग्र अन्धकार का विनाश करता है।[18] इसी प्रकार राजा को भी प्रजा का अधर्मनाशक एवं प्रजा को धर्म में प्रवृत्त करने वाला होना चाहिए[19], जिसके परिणामस्वरूप प्रजा का कल्याण हो।

विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र रूप में प्रसिद्ध यम देवता पुण्यात्मा तथा पापी में किसी भी प्रकार का भेद न करते हुए उनको उनके कर्मों के अनुसार विनष्ट करते हैं।[20] राजा को भी यमराज की भान्ति कुकर्मी एवं गलत मार्ग पर प्रवृत्त लोगों को दण्डित करने के लिए सदैव प्रवृत्त रहना चाहिए।[21]

सभी देवताओं को तृप्त करने के लिए अग्नि देवता को ही आहुति प्रदान की जाती है तथा उस आहुति को प्राप्त करके देवता तृप्त हो जाते हैं।[22] इस अग्नि देवता के समान ही राजा का भी कर्त्तव्य है कि वह प्रजापालन में तत्पर रहकर उनसे कर ग्रहण कर उनका यथाविधि विनियोग करता रहे।[23]

जलों के अन्दर अमृत एवं औषध विद्यमान है तथा यही जल अन्न प्रदान करते हुए समग्र सृष्टि का कल्याण करता है।[24] शुक्रनीति का कहना है कि जिस प्रकार वरुण देवता सलिल रस से समस्त सृष्टि को परिपुष्ट करता है, उसी प्रकार राजा भी अपने धन से समस्त प्रजामण्डल का परिपालन करे।[25]

चन्द्र देवता जिस प्रकार अपनी शीतल किरणों से संसार को आनन्दित करता है, उसी प्रकार राजा का भी कर्त्तव्य बनता है कि वह अपने गुण एवं कर्म से समस्त प्रजाकुल को

आनन्दित करता रहे।[26]

कुबेर को धन का स्वामी माना जाता है। शुक्रनीति में राजा को कुबेर देवता के समान धन-सञ्चय करने के लिए कहा गया है[27], क्योंकि राजा इस सञ्चित कोश से राष्ट्र, सेना एवं धार्मिक कृत्यों की रक्षा कर पाएगा।[28]

इस उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नीतिशास्त्र में राजा को एक उच्च स्थान देते हुए उसे वैदिक देवताओं के समान आचरण करने की प्रेरणा प्रदान की गयी है, जोकि उसके महत्त्व के साथ ही साथ उसे कर्त्तव्यनिष्ठ भी बनाती है। अतः वैदिक देवताओं का राजा एवं राजधर्म पर प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है।

संदर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्।
   गीर्भिर्वरुण सीमहि।। ऋग्वेद, 1/25/3
2. आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना। यजुर्वेद, 34/47
3. .....त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।। बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/9/2
4. 1. कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे। ....ऋग्वेद, 1/25/5
   2. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
      य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।। वही, 10/121/3
   3. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
      यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य महना स जनास इन्द्रः।। वही, 2/12/1
5. राज्यतन्त्रायत्तं नीतिशास्त्रम्।। चाणक्यसूत्र, सूत्र सं.-43
6. नीतिशास्त्रानुगो राजा।। वही, सूत्र सं.-48
7. 1. अराजके हि सर्वस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
      रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः।।
      इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
      चन्द्रवित्तेशयोश्चापि मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।। शुक्रनीति, 1/71-72
   2. स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानाञ्च नृपः कृतः।
      ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा।। वही, 1/188
8. 1. न राज्ञः परम् दैवतम्।। चाणक्यसूत्र, 372
   2. बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
      महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।। हितोपदेश, 2/82
9. 1. राजाज्ञां नातिलङ्घयेत्।
      यथाऽऽज्ञप्तं तथा कुर्यात्।। चाणक्यसूत्र, 532-533
   2. इन्द्रयमस्थानमेतद् राजानः प्रत्यक्षहेडप्रसादाः।
      तानवमन्यमानं दैवोऽपि दण्डः स्पृशति।
      तस्माद् राजानो वावमन्तव्याः.....।। अर्थशास्त्र, 1/8/12, पृ.सं.-38

10. स दीव्यति पृथिव्यां तु नान्यो देवो यतः स्मृतः।। शुक्रनीति, 4/3/4
11. सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तितः।
    तस्मात्तं देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित्।।
    सर्वदेवमयस्याऽपि विशेषो नृपतेरयम्।
    शुभाऽशुभफलं सद्यो नृपाद्देवाद्भवान्तरे।। पंचतन्त्र, 1/131-132
12. इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
    सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि तो बभूव।। ऋग्वेद, 1/32/15
13. .....इन्द्राय भागं.....।। यजुर्वेद, 1/1
14. जङ्गमस्थावराणाञ्च हीशः स्वतपसा भवेत्।
    भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा।। शुक्रनीति, 1/73
15. अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।
    अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव।। ऋग्वेद, 10/168/3
16. विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः।। तर्कसंग्रह, पृ.सं.-40
17. वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः। .....शुक्रनीति, 1/74
18. तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे। ....ऋग्वेद, 1/115/5
19. .....धर्मप्रवर्तकोऽधर्मनाशकस्तमसो रविः।। शुक्रनीति, 1/74
20. परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
    वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य।। ऋग्वेद, 10/14/1
21. दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद् दण्डकृद् यमः।। शुक्रनीति, 1/75
22. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
    स इद् देवेषु गच्छति।। ऋग्वेद, 1/1/4
23. .....अग्निः शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक्।। शुक्रनीति, 1/75
24. अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः।
    देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजं सेत्।। यजुर्वेद, 9/6
25. पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः। ....शुक्रनीति, 1/76
26. .....करैश्चन्द्रो ह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः।। वही, 1/76
27. कोशानां रक्षणे दक्षः स्यान्निधीनां धनाधिपः।
    चन्द्रो यथा विना सर्वैरंशैर्नो भाति भूपतिः।। शुक्रनीति, 1/77
28. येन केन प्रकारेण धनं सञ्चिनुयात् नृपः।
    तेन संरक्षयेद्राष्ट्रं बलं यज्ञादिकाः क्रियाः।। वही, 4/2/2

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (112-119) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

वेदोक्त सन्यास धर्म एवं आचार्य शंकर

डॉ. सुरेश लाल बर्णवाल

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
योग एवं स्वास्थ्य विभाग, देवसंस्कृति विश्वविद्यालय,
शांतिकुँज, हरिद्वार, (उत्तराखण्ड)

डॉ. सत्येन्द्र दत्त अमोली

प्रवक्ता (योग विभाग),
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर,
हरिद्वार, (उत्तराखण्ड)

संन्यास मार्ग अन्य सभी मुक्ति के मार्गों से भिन्न है। अन्य मार्ग जहाँ किसी न किसी क्रिया में प्रवृत्ति करते हैं, वहीं संन्यास मार्ग निवृत्ति को ही प्रमुखता देता है। सभी प्रकार की क्रियाओं से निकलकर संन्यास मार्ग में साधक को स्वातंत्र्य की अनुभूति होती है। यहाँ तक की संध्यावंदन, अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों की अनिवार्यता भी इसमें समाप्त हो जाती है। आचार्य शंकर ज्ञाननिष्ठ संन्यासी थे। उनका स्पष्ट मत था, कि मोक्ष की प्राप्ति का एक मात्र साधन सर्वकर्मसंन्यास युक्त ज्ञाननिष्ठा ही है।

आचार्य शंकर ज्ञानवादी विचारधारा के दार्शनिक हैं। अतः वे मोक्ष हेतु संन्यास का ही उपदेश प्रमुख मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान का लक्षण संन्यास है।[3] शांकर सम्प्रदाय में दो विभाग प्रमुख हैं,–मायावादात्मक अद्वैत ज्ञान तथा कर्म संन्यास धर्म।[4] प्रथमतः यदि हम संन्यास शब्द को अन्वेषित करें तो इसका प्रधान अर्थ त्याग करना है। किन्तु यदि उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार उसके तात्पर्य को समझे तो, 'असु–क्षेपणे'[5] धातु से निर्मित क्षेपण अर्थात् त्याग के अर्थ में संन्यास शब्द बनता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार संन्यास का अर्थ हुआ – 'सम्यग्रूपेण निश्शेषरूपेण च सर्वकर्मणां क्षेपणं परित्यागः' अर्थात् भली प्रकार निःशेष रूप से समस्त कर्मों का क्षेपण (परित्याग) करना ही संन्यास है। श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में भी शंकर सर्वकर्मफल त्याग को ही त्याग कहते हैं। और इस त्याग को ही संन्यास समझने का उपदेश करते हैं।[6] श्रीमद्भगवद्गीता के 'स सन्न्यासी च योगी च' पद के भाष्य में शंकर कहते हैं,–"संन्यास नाम परित्याग का है, वह जिसमें हो वही संन्यासी है।"[7]

पूर्वोक्त विवेचित व्युत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य दो धातुओं से भी संन्यास शब्द की व्युत्पत्ति होती है,–1. 'आस–उपवेशने'[8] इस धातु के अर्थ में सम्यक् रूप से और सम्पूर्ण

रूप से परमेश्वर के निकट बैठना उसकी शरण में जाना संन्यास है। 2. 'अस्-भुवि'[9] इस धातु के अर्थ में सम्यक् रूप से निःशेष हो जाना संन्यास है।

संन्यास की शब्द व्युत्पत्ति से आगे बढ़ते हुए अब यदि भारतीय ज्ञान के आदि श्रोत वेदों को दृष्टिगत करें तो प्रायः हमें वहाँ संन्यास शब्द की प्राप्ति नहीं होती तथापि संन्यासी के परिप्रेक्ष्य में यतयः[10], ब्राह्मणस्य[11], विजानतः[12] इत्यादि शब्दों का व्यवहार वेदों में अवश्य हुआ है। आधुनिक युग में वेद क्रान्ति के जनक महर्षि दयानन्द के वेद भाष्यों में संन्यासी और उसके धर्म का न्याय संगत प्रस्तुतिकरण किया गया है। वेद संन्यासी के विषय में कहता हैं, कि-

यः पञ्चं चर्षणीरभि निंषसाद दर्मेदमे।
कविर्गृहपंतिर्युवां।।

अर्थात् "जो युवा गृहपालक के समान राष्ट्र का पालक, क्रान्तदर्शी विद्वान्, इन्द्रियों के और मन के विषयों को दमन करने के कार्य में, पांच प्रकार के प्रजाओं तथा पांचों विषयों के द्रष्टा पांचों इन्द्रियों पर अध्यक्ष रूप से विराजमान है, वही उपास्य एवं शरण तथा सत्संग योग्य है।"[13] वेद गृहस्थों को आदेश करता है, कि-

प्राग्नयें विश्ववशुचें धियन्धेंऽसुरघ्ने मन्मं धीतिं भंरध्वम्।
भरें हविर्न बर्हिषिं प्रीणानो वैश्वानराय यतंये मतीनाम्।।

अर्थात् "हे गृहस्थो! जो अग्नि की तरह विद्या और सत्य धर्म के प्रकाशक, अधर्म के खण्डक और सत्य के मण्डन से सबको शुद्ध पवित्र करने वाले, बुद्धिमान्, ज्ञानप्रदाता अविद्या के विनाशक और मनुष्यों को विज्ञान और धर्म को धारण कराने वाले संन्यासी हों उनके संग से तुम शुद्ध बुद्धि को धारण करके संशय रहित हो जाओ।"[14] ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में स्वामी दयानंद संन्यास के वैदिक परिप्रेक्ष्य में कहते हैं, "संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं-उन में एक यह है, कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे। दूसरा जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटाकर ठीक ठीक सत्यमार्ग में निश्चित हो जाय, उस समय गृहस्थाश्रम से संन्यास हो सकता है, और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर ले।"[15] वहीं सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानंद कहते हैं, कि "जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे आश्रमों में संन्यास की आवश्यकता हैं।"[16] यहाँ स्वामी दयानन्द के पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयोजन वैदिक परिदृश्य में संन्यास के स्वरूप का स्पष्टीकरण है, चूंकि वर्तमान में स्वामी दयानंद के विचारों को वैदिक वाक्यों की प्रामाणिक व्याख्या के रूप में ग्रहण किया जाता है।

अब यदि संन्यास के परिप्रेक्ष्य में शंकर के दृष्टिकोण का अन्वेषेण करें तो हम पाते हैं, कि शंकर ने वेदों को भले ही प्रत्यक्ष रूप से संदर्भित न किया हो तथापि वे वेदों के अनुकूल ही संन्यास को श्रेष्ठतम धर्म के रूप में ग्रहण करते थे। शंकर प्रवृत्ति और निवृत्ति

दोनों मार्गों को निःश्रेयस का हेतु स्वीकारते हैं।[17] तथापि गीता में श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को कर्म का उपदेश देने के विषय पर पर आचार्य शंकर का मत है, कि गीता का प्रयोजन कर्म की घोर प्रवृत्ति नहीं अपितु कर्मसंन्यास पूर्वक ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष की प्राप्ति है।[18] वह शास्त्रोक्त विधि द्वारा आश्रम धर्म का पालन कर अंत में संन्यास को अतिआवश्यक मानते हैं।[19] शंकर के इस मत पर तिलक ने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है, कि "जिन्हें इस संसार के व्यवहार निःसार प्रतीत होते हैं, वे इनसे निवृत्त हो अरण्य में जाकर स्मृति धर्मानुसार चतुर्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। इस कर्म त्याग के मार्ग को संन्यास कहते हैं।"[20] शंकर के अनुसार यदि प्रथम तीन आश्रमों के अनुयायी अपने आश्रम धर्म का पालन नहीं करते तो उन्हें हानि होती है, किन्तु एक संन्यासी को इन पूर्व के तीनों आश्रमों के नियम पालन न करने से कोई हानि नहीं। अतः पहले तीन आश्रमी पुण्यलोक के भागी होते हैं, शेष संन्यासी ही अमरत्व का भागी होता है।[21] शंकर ज्ञान सम्पादन का अधिकार सभी प्राणियों के लिए समान रूप से बताते हैं, किन्तु उनका यह कठोर मत है, कि संन्यास अवस्था में प्राप्त ज्ञान ही मोक्ष तक पहुँचाता है।[22] आचार्य शंकर श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में संन्यास योग को परिभाषित करते हुए कहते हैं, "कि जो कर्म ईश्वर के प्रति समर्पित भाव से किया जाता है, वह भाव ही संन्यास है। तथा उस कर्मयोग प्रक्रिया से जिस साधक का अंतःकरण शुद्ध हो गया हो वही संन्यास योगी है।"[23] आचार्य कर्म को संन्यास के साथ व्यावहारिक रूप से संयोजित करते हैं। कर्म से उनका अर्थ स्पष्ट है, ब्रह्म को अर्पित कर्म ही कर्म (योग) है, अन्य नहीं। शंकर ऐसे कर्म और संन्यास के संयोग के विषय पर कहते हैं, कि बिना कर्मयोग के सन्यास प्राप्त करना कठिन है।[24] संन्यास प्राप्त करने से पूर्व अंतःकरण की मलिनता को साफ करना अनिवार्य है। और आचार्य शंकर इसके लिए ही कर्मयोग के अनुष्ठान का उपदेश करते हैं। यह शंका करने पर कि संन्यास और कर्म का एक ही फल 'योग' कैसे है? के उत्तर में शंकर कहते हैं, कि संन्यास और कर्मयोग ही समबुद्धि से युक्त होकर योग नाम से कहे जाते हैं।[25] अतः शंकर के मत से यह तात्पर्य सरलता से निकाला जा सकता है, कि संन्यास – कर्त्ता के कर्म भाव की शून्यता है। साधक के अंतःकरण में जब ब्रह्मभाव उत्पन्न हो जाता है, और जब वह ब्रह्म तुल्य हो जाता है, उस अवस्था के विषय में शंकर कहते हैं, कि 'संन्यास ही ब्रह्म है।'[26]

शंकर मोक्ष प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम अंतःकरण की शुद्धि तत्पश्चात् ज्ञान प्राप्ति और अंत में सर्वकर्मसंन्यास रूपी ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति का उपदेश देते हैं।[27] आचार्य यज्ञ, तप, दान का श्रद्धा पूर्वक अनुष्ठान ब्रह्मार्पण भाव से कर प्रबल तत्त्व जिज्ञासा के लिए संन्यास ग्रहण करने का आदेश देते हैं।[28] श्रीमद्भगवद्गीता में शंकर 'यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव' पद का भाष्य करते हुए कहते हैं,-"कर्मानुष्ठान रूप योग को वास्तविक संन्यास जानना चाहिए। क्योंकि जिसने फल विषयक संकल्पों का अर्थात् इच्छाओं का त्याग न किया हो, ऐसा कोई भी कर्मी योगी नहीं हो सकता। ऐसे पुरुष के चित्त का समाधिस्थ होना सम्भव नहीं, क्योंकि फल का संकल्प ही चित्त के विक्षेप का कारण है। इसलिए जो

कर्मी फल विषयक संकल्पों का त्याग कर देता है, वही योगी होता है। और यही कर्मयोग रूप संन्यास है।"[29] शंकर ने संन्यास धर्म की न्यायोचित व्याख्या प्रस्तुत कर संन्यास से जुड़ी सभी भ्रान्तियों का अंत किया। शंकर संन्यास संघ में नारी का प्रवेश सर्वथा वर्जित करते हैं। चूंकि वह बौद्ध धर्म की संन्यास परम्परा में स्त्रियों के प्रवेश का कुप्रभाव जानते थे, अत: इसी परिप्रेक्ष्य में वह नारी को नरक का द्वार घोषित करते हैं।[30] क्योंकि वह पुरुष की बुद्धि को ज्ञान मार्ग से भटकाती है, इसीलिए शंकर कामनी और कंचन के त्याग को श्रेष्ठ त्याग बताते हैं।[31] इस प्रकार आचार्य शंकर संन्यास की एक सुव्यवस्थित अवधारणा को प्रस्तुत कर संन्यास से जुड़े सभी तथ्यों को स्पष्ट करते हैं।

शंकर संन्यास के लक्षणों का वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में कहते हैं, "कि जो न तो द्वेष करता हो, न किसी वस्तु की आकांक्षा करता हो और न शारीरिक क्लेशों से भयभीत होता हो वह साधक ही संन्यासी होता है।"[32] शंकर ने संन्यास योगियों के लक्षण को इंगित करते हुए कौपीन पंचक नामक एक संन्यास परक कृति की रचना की जिसके अनुसार, – "अयमात्मा ब्रह्म" आदि महावाक्यों का चिन्तन करने वाला, भिक्षा के अन्न से संतुष्ट रहने वाला, करुण व दयाशील, शोक मोह रहित, ब्रह्मचर्य व्रतधारी, परिग्रह शून्य, देह भावशून्य, प्रत्याहारी, चारों दिशाओं में स्वच्छन्द परिभ्रमण करने वाला, कौपीनधारी विरक्त विद्वान् संन्यासी सत्य ही बहुत भाग्यशाली है।"[33] एक अन्य कृति में शंकर तीनों ऐषणाओं से विरक्त निर्जन स्थान में विचरने वाले संन्यासी को धन्य बताते हैं।[34] वहीं सदाचारानुसंधान में आचार्य शंकर कहते हैं "कि केवल कषाय वस्त्र धारण करने से ही संन्यास नहीं होता अपितु प्राणायाम, धारणा आदि हठाभ्यास पूर्वक मैं देह नहीं हूँ, आत्मा हूँ यह दृढ़ निश्चय संन्यास का लक्षण हैं।"[35] इसी परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "संन्यासी का कोई मत या सम्प्रदाय नहीं होता क्योंकि उसका जीवन स्वतंत्र विचार होता है, और वह सभी मतमतान्तरों से उनकी अच्छाइयाँ ग्रहण करता है। उसका जीवन साक्षात्कार का होता है, न कि केवल सिद्धान्तों अथवा विश्वासों का और रूढियों का तो बिलकुल ही नहीं।"[36]

शंकर ने "मात्र कषाय वस्त्र धारण करना ही संन्यास नहीं है" कि घोषणा को स्पष्ट करते हुए अपनी कृति चर्पट पंजरिका में कहा हैं, कि "कभी जटायें बढ़ाकर तो कभी सिर मुड़ाकर या फिर कषाय वस्त्र पहन संन्यासी का वेश धारण कर मात्र उदर भरण के लिए परिव्राजन करना संन्यास नहीं।"[37] यह स्पष्ट है, कि संन्यास की सत्यता तभी है, जब विवेक वैराग्य आदि शुद्ध भावों का अंत:करण में उदय होता है, जब विषयों के प्रति कषाय भाव उत्पन्न हो जाता है, तभी बाह्य कषाय वस्त्र भी शोभा देते हैं। अन्यथा वह बाह्य आडम्बर से बढ़कर कुछ नहीं।

आचार्य शंकर संन्यासियों के भेद का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि 'नैर्वेद्य और ज्ञानगर्भ नामों से वैराग्य दो प्रकार का कहा गया है। इनमें प्रथम प्राय: घर, मित्र, पुत्र और धनादि की लालसा में दु:खों को देखने से हुआ करता है, और दूसरा ज्ञानोपदेश प्राप्त कर

चुकने पर उक्त वस्तुओं में वमन किये हुए पदार्थों के समान हेय बुद्धि हो जाने से होता है। इसी प्रकार संयमी पुरुष का संन्यास भी दो प्रकार का होता है, प्रथम गृह त्याग और फिर देहाभिमान का त्याग'[38] एक अन्य स्थल पर शंकर संन्यासी के परमहंस संन्यासी भेद के विषय में बताते हुए कहते हैं, कि "जो सुन्दर युवति के प्रति मृतक देह के समान उपेक्षा का भाव रखता हो तथा जो विषयों के प्रति आसक्ति को हलाहल विष के तुल्य जानता हो ऐसा संन्यासी परमहंस संन्यासी होता है।"[39] संन्यासी की सच्ची कसौटी है, संसार में रहना किन्तु संसार का न होना।[40] इस प्रकार आचार्य शंकर मुख्य रूप से संन्यासियों के तीन भेदों का वर्णन करते हैं–नैर्वेद्य, ज्ञानगर्भ व परमहंस।

मोक्षाभिलाषी संन्यासी को संन्यास योग की कर्तव्य मीमांसा का ज्ञान अवश्य होना चाहिए और यही संन्यास के आचार का ज्ञान संन्यास का अनुशासन कहलाता है। आचार्य शंकर द्वारा भी संन्यासियों के लिए कठोर अनुशासन का नियमन किया गया है, जिसमें – एकान्त देव गृह या वृक्ष के मूल में निवास करना, पृथ्वी को ही शय्या बनाना, मृगचर्म को ही वस्त्र बनाकर पहनना, स्त्री का मन वचन तथा कर्म से पूर्ण रूपेण त्याग तथा अपरिग्रह व्रत का पालन प्रमुख अनुशासनों में आते हैं।[41] आचार्य द्वारा संन्यासियों के अनुशासन हेतु 'महानुशासन' नामक एक नियमावली का भी प्रावधान किया गया जो कि शांकर संन्यास परम्परा (दशनाम) के संन्यासियों और मठ तथा मठाधीशों द्वारा पालनीय है। इसके अंतर्गत धर्मप्रचार हेतु भ्रमण करते रहना, एक स्थान पर नियत काल से अधिक निवास न करना, आलस्य का सर्वथा त्याग तथा कलह न करना प्रमुख नियम हैं।[42] स्वामी विवेकानन्द संन्यासियों के अनुशासन के विषय पर कहते हैं, कि 'एक संन्यासी जब तक कि सर्वोच्च पद पर न पहुँच जाय अर्थात् परमहंस न हो जाये तब तक उसे गृहस्थों द्वारा छुए या उपयोग में लाये भोजन, बिछावन आदि से बचना चाहिए उनके प्रति घृणा की भावना से नहीं वरन् अपने को बचाने के लिए।'[43] अपनी कविता 'संन्यासी का गीत'[44] में स्वामी विवेकानन्द इसी भाव को प्रस्तुत करते हैं। यथा–

मत जोड़ो गृह द्वार, समा तुम सको, कहाँ आवास?
दूर्वादल हो तल्प तुम्हारा, गृह-वितान आकाश,
खाद्य स्वतः जो प्राप्त, पक्व वा इतर, न दो तुम ध्यान,
खान पान से कलुषित होती आत्मा वह न महान्,
जो प्रबुद्ध हो, तुम प्रवाहिनी स्त्रोतस्विनी समान
रहो मुक्त निर्द्वन्द्व, वीर संन्यासी, छेड़ो तान
ओम् तत् सत् ओम्!

इस प्रकार दिये गये अनुशासनों का पालन करते हुए संन्यासी को मोक्ष की प्राप्ति होना संभव है। तथा इन अनुशासनों के पालन से वह सामान्य मनुष्यों के सम्मुख एक आदर्श भी प्रस्तुत करता है। यही आचार्य शंकर के संन्यासियों हेतु अनुशासन के उपदेश हैं।

मोक्ष प्राप्ति का अन्तिम साधन आत्मज्ञान है, और यह आत्मज्ञान तभी प्राप्त होता है, जब विषय भोगों से विरक्ति का भाव रख संन्यास का अनुष्ठान किया जाता है। अर्थात् संन्यास आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है, और यही अंत में मोक्ष प्राप्ति का साधन बनता है। शंकर श्रीमद्भगवद्गीता में आये 'नैष्कर्म्यसिद्धि' अवस्था की व्याख्या करते हुए कहते हैं- "निष्क्रिय ब्रह्म ही आत्मा है, यह ज्ञान होने के कारण जिसके सर्वकर्म निवृत्त हो गये हैं वह 'निष्कर्मा' है। उसके भाव का नाम 'नैष्कर्म्य' है और इस निष्कर्मता रूप सिद्धि का नाम 'नैष्कर्मसिद्धि' है। जिसकी प्राप्ति सर्वकर्म संन्यास के द्वारा होती है।"[45] आचार्य शंकर इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते है, कि परमहंस संन्यासी ही अखण्ड जय को प्राप्त कर मुक्ति भाव को प्राप्त होता है।[46] आचार्य शंकर संन्यास से प्राप्त उस दिव्य अनुभव का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि "अनंत, अखण्ड, अहम्, आत्मस्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उस महापुरुष के लिए सम्पूर्ण जगत् नंदन वन के समान पूर्ण प्रसन्नता से भर जाता है, समस्त वृक्ष कल्पवृक्ष के समान आनंदप्रद हो जाते हैं, समस्त जल राशि गंगा जल के समान पवित्र हो जाती है, उसका उठना बैठना आदि समस्त क्रियायें पुण्यमय हो जाती हैं, प्राकृत संस्कृत आदि वाणियाँ वेदवाणी के समान हर्षप्रद हो जाती हैं, विशेष क्या कहा जाये उस विद्वान् सत्पुरुष की सभी अवस्थायें ब्रह्ममय ही हो जाती हैं।"[47] शंकर संन्यास के फल को स्पष्ट करने हेतु श्रीमद्भगवद्गीता के 'सन्न्यासयोगयुक्तात्मा' की व्याख्या में कहते हैं, - "ईश्वर अर्पण करके कर्म किये जाने के कारण जो 'संन्यास' है, और कर्मरूप होने के कारण जो योग है, उस संन्यास रूप योग से जिसका अंतःकरण युक्त है, उसका नाम 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' है। इस अवस्था में जीवित रहते ही कर्म बंधनों से मुक्त हो वह संन्यासी ईश्वर में विलीन हो जाता है।"[48] इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि मोक्षमार्ग के पथिक के लिए तो संन्यास सर्वथा उपादेय है। शंकर तो यहाँ तक कहते हैं, "कि संन्यास परिव्राज्य अविद्वान् को भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए क्योंकि यह उसके लिए भी उतना ही फलदायी है, जितना कि एक विद्वान् मुमुक्षु के लिए।"[49] शंकर के संन्यास धर्म पर इन विचारों से यह अवधारणा सिद्धि होती है, कि शंकर संन्यास के वैदिक स्वरूप पर पूर्णतः आश्रित थे।

संदर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : उपोद्घात (ज्ञानं संन्यासलक्षणम्)
2. गीता रहस्य, बालगंगाधर तिलक : पृष्ठ-327
3. धातुपाठ (दिवादिगण) : 4/106
4. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 18/2 (सर्वकर्मफलत्यागः प्राहुः कथयति त्यागः..... संन्यासत्यागशब्दयोः एकः)
5. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 6/1 (सन्न्यासः परित्यागः स यस्य अस्ति स सन्न्यासी च)
6. धातुपाठ (अदादिगण) : 2/11
7. धातुपाठ (अदादिगण) : 2/60

8. ऋग्वेद : 8/6/18
9. ऋग्वेद : 10/109/4
10. यजुर्वेद : 40/7
11. ऋग्वेद : 7/15/2
12. ऋग्वेद : 7/13/1
13. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका : वर्णाश्रमविषयः/संन्यासाश्रमविषयः
14. सत्यार्थप्रकाश : पंचमसमुल्लास/संन्यासविधि
15. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : उपोद्घात (द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणः च)
16. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : उपोद्घात (सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद्)
17. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन्, भाग 2 : पृष्ठ-540
18. गीता रहस्य, बालगंगाधर तिलक : पृष्ठ-201
19. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य : 3/4/20 (तस्मात्पूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृतत्त्वभाक्)
20. मुण्डकोपनिषद् शांकरभाष्य : उपोद्घात (सन्न्यास निष्ठैव ब्रह्म विद्या मोक्ष साधनम्)
21. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 9/28 (सन्न्यासयोगो नाम संन्यासः च असौ मत्समर्पणतया. .....)
22. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 5/6 (संन्यासः तु पारमार्थिको दुःखम् आप्तुं प्राप्तुम् अयोगतो योगेन विना)
23. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 5/4 (संन्यासकर्मयोगौ ज्ञानतदुपायसमबुद्धित्वादिसंयुक्तौ)
24. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 5/6 (संन्यास ब्रह्म उच्यते)
25. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 5/12 (सत्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसंन्यास)
26. उपदेशपंचकम् : 1
27. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 6/2 (कर्मानुष्ठानलक्षणं तं परमार्थसन्न्यासं.....सन्न्यस्तफल-संकल्प....इति कर्मयोगस्य स्तुत्यर्थं सन्न्यासत्वम्)
28. मणिरत्नमाला : 3 **(द्वारं किमेकं नरकस्य नारी) इस बात से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।** (सम्पा.)
29. मणिरत्नमाला : 8 (किमत्र हेयं कनकं च कान्ता)
30. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 5/3, (ज्ञेयो ज्ञातव्यः स कर्मयोगी नित्यसंन्यासी इति, यो न द्वेष्टि किंचिद् न काङ्क्षति, दुःखसुखे)
31. कौपीन पंचक : 1-5
32. धन्याष्टक : 3, 5
33. सदाचारानुसंधान : 38
34. विवेकानंद साहित्य : 3/184
35. चर्पट पंजरिका : 14
36. शतश्लोकी : 14
37. धन्याष्टक : 9

38. विवेकानंद साहित्य : भाग 6, पृष्ठ-259
39. मोहमुग्दर : 7
40. महानुशासनम् : 1-8
41. विवेकानंद साहित्य : 3/187
42. विवेकानंद साहित्य : 10/175
43. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 18/49 (निश्क्रियब्रह्मात्म.....च सा नैष्कर्म्यसिद्धिः..... सर्वकर्मसन्न्यासेन अधिगच्छति प्राप्नोति)
44. धन्याष्टक : 9
45. धन्याष्टक : 10
46. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य : 9/28 (सः अयं सन्न्यासयोगो.....कर्मबंधनैः जीवन् एव पतिते च अस्मिन् शरीरे माम् उपैष्यसि आगमिष्यसि)
47. ऐतरेयोपनिषद् शांकरभाष्य - प्रस्तावना (अविदुषापि मुमुक्षुणा पारिव्राज्यं विविदिषाकर्तव्यमेव। संन्यासविधानम्।)

✦✦✦

त्वमुत्तरोऽसः। -अथर्व. 19.46.7
तू उच्च बन।

नहि त्वा कश्चन प्रति। -अथर्व. 20.93.2
याद रख, संसार में कोई नहीं जो तेरी बराबरी कर सके।

शयो हत इव। -अथर्व. 20.131.16
अरे, तू मृततुल्य होकर सोया पड़ा है!

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते। -अथर्व. 18.1.41
देवत्व के इच्छुक जन वेदमाता का आह्वान करते हैं।

सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते। -अथर्व. 18.1.41
सुकर्मा वेदमाता का आह्वान करते हैं।

सरस्वतीं पितरो हवन्ते। -अथर्व. 18.1.42
पितृजन वेदमाता का आह्वान करते हैं।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (120-123) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

पुनर्जन्म – एक वैदिक दृष्टि

राहुल शर्मा

शोधार्थी, संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय धर्मशास्त्रों का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। वेदों से लेकर आधुनिक दर्शन ग्रन्थों तक सभी ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। कठोपनिषद् का नचिकेतो-पाख्यान तो इस सिद्धान्त का जीता जागता प्रमाण है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करने वाला मनुष्य यह समझ सकता है कि उसके वर्तमान जीवन का सुख-दुख, दरिद्रता-वैभव आदि उसके पूर्व जन्म में किये गये सत्-असत् कर्मों का परिणाम है तथा वर्तमान जीवन में किये गये दुष्कर्मों का परिणाम उसे अनेक योनियों में जन्म लेकर भोगना पड़ेगा। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है समाज मे रहते हुए उसके मन में विभिन्न जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, उन्हीं जिज्ञासाओं में से एक है – पुनर्जन्म। संसार में देखा जाता है कि कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई बुद्धिमान् है तो कोई बुद्धिहीन; कोई धनी है तो कोई धनहीन, कोई भी यह नहीं चाहता कि मैं बुद्धिहीन या निर्धन बनूँ। न चाहते हुऐ भी ऐसे बन जाते हैं। प्रायः सभी मनुष्यों को किसी न किसी समय ये प्रश्न आये बिना नहीं रहते कि मैं कहाँ से आया हूँ? और कहां जाऊँगा? बात स्पष्ट है कि अनभिज्ञ लोग या अल्पज्ञ लोग इन प्रश्नों को टालने का प्रयत्न करते हैं। अधिकांश विद्वान् लोग विचार करके थक जाते हैं और उत्तर शायद ही पाते हैं। ये प्रश्न सनातन हैं और उत्तर भी पुरातन ही हैं। जगत्सृष्टि के समय से यह खोज सभी देशों में और सभी मतों तथा दर्शनों में की जा रही है। इन सभी विचारों पर परामर्श किये बिना अपने-अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को स्थापित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। दर्शनों में चाहे आस्तिक हों या नास्तिक केवल एक चार्वाक-दर्शन को छोड़ कर सभी दर्शनकारों ने पुनर्जन्म का समर्थन किया है। आस्तिक दर्शनों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त निर्विवाद सा मान लिया गया है। बौद्ध तथा जैन दर्शन इसे डंके की चोट स्वीकार करते हैं।

वेद पुनर्जन्म को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करता है। पुनर्जन्म हिन्दुधर्म का प्रधान विश्वास है। यही बात उसे इस्लाम तथा ईसाई धर्म से भिन्न भूमिका प्रदान करती है। पुनर्जन्म का यह विश्वास सिद्धान्त-रूप से अत्यन्त प्राचीन है। हिन्दू-ज्ञान का समस्त स्रोत वैदिक होने के कारण वैदिक वाङ्मय में उसके सूत्र बिखरे हुए हैं। उपनिषद् तो ऐसी कथाओं से भरे हुए हैं। जिनसे पुनर्जन्म सिद्धान्त में हमारे विश्वास की पुष्टि होती है, वेदों में कुछ कम

प्रमाण नहीं हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर परमात्मा को "असुनीति" संज्ञा से अभिहित किया गया है कि वह प्राण जीव को भोग के लिये एक शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाता है। उस असुनीति प्रभु से प्रार्थना है कि वह पुनर्जन्म या अगले जन्मों में भी हमें सुख दे और ऐसी कृपा करे कि सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध हों।[1] जैमिनीय ब्राह्मण में वर्णन है कि जो मैं पहले था सो मैं वही हूँ मैं इस लोक में पुनः पैदा हो गया हूँ।[2]

वर्तमान जन्म या पुनः जन्म में मन, आयु, प्राण और समस्त स्वस्थ इन्द्रियों की प्राप्ति तथा दुखों एवं बुरे कर्मों से सर्वथा पृथक् होने के लिये यजुर्वेद में कामना की गई है।[3] लगभग ऐसा ही उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। अथर्ववेद तो ऐसे मन्त्रों से परिपूर्ण है, जिनसे पुनर्जन्म की समस्या पर किसी न किसी रूप में प्रकाश पड़ता है, कहीं अगले अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा नवीन योनियों में शरीर धारण करता है। कर्मानुसार जीव के योनियों में जन्म लेने का उल्लेख इन मन्त्रों में पाया जाता है जैसा कि एक मन्त्र में कहा गया है कि हे प्रभु! आपकी कृपा से पुनर्जन्म में एकादश इन्द्रियाँ मुझको प्राप्त हों, अर्थात् हर जन्म में मनुष्य शरीर को प्राप्त होऊं।[4] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसे कर्मों वाला जन्म प्राप्त होता है।[5] ऋग्वेद में तो यह भी बताया गया है कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा का क्या होता है। इसका वर्णन भी प्राप्त होता है। जैसे कि मृत्यु के बाद देहगत पंचतत्व अपने-अपने तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। जीवात्मा अमर होने के कारण बचा रहता है। यह जीवात्मा ही अन्य पंचभौतिक तत्त्वों के देह को प्राप्त करता है।[6]

यजुर्वेद के अन्तिमांश में यह भी बताया गया है कि मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार ही आगे जन्म धारण करना होगा। शरीर तो भस्म पर्यन्त है ही लेकिन जीवात्मा वायु, अनिल एवं अमृत स्वरूप है।[7] ताण्ड्य ब्राह्मणानुसार जीवात्मा देह से निकल कर दूरगामी यम को प्राप्त होता है। वहाँ पर भी ब्रह्मा को सम्बोधित करते हुए, अपने पुनर्जीवन के निमित्त लौटने की प्रार्थना पुनर्जन्म के मत को मजबूत बनाती है।[8] केवल वेदों में ही नहीं सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। महर्षि यास्क ने भी निरुक्त में पुनर्जन्म पर प्रकाश डाला है। यथा-मैं अनेक बार जन्म-मरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के गर्भाशयों का सेवन, विविध भोजन, अनेक माताओं का दुग्धपान, सुहृदों माता-पिता के दर्शन तथा गर्भाशय का असहनीय कष्ट सहन करते हुए अनेक योनियाँ ग्रहण करता हूँ इत्यादि।[9]

सांख्य का **'तद्बीजात् संसृतिः'** 3/3 कहना इस बात का ज्ञापक है कि वह आत्मा सूक्ष्म भावों व संस्कारों के साथ देहान्तर में संसरण करता है। प्रत्येक प्राणियों में हमेशा जीने की इच्छा व्याप्त रहती है, मरने का प्रायः भय ही रहता है। इसको महर्षि पतंजलि ने **"अभिनिवेश"** कहा है। यह अभिनिवेश ही पूर्वजन्म की भावना को व्यक्त करता है।[10] आत्मा को अजर अमर मानते हुए न्यायदर्शनकार नवजात बच्चे में विद्यमान हर्ष, भय, शोक, स्तनपान, शहदादि चाटना संस्कारों को पूर्व जन्मगत मानते हैं, और यह प्रक्रिया ठीक उसी

भाँति है जैसे कमल आदि का खिलना-बन्द होना आदि विकार सूर्य के उदय-अस्त के साथ सम्बद्ध होता है ऐसा मानते हैं।[11]

उपनिषद् और गीता में तो पुनर्जन्म का स्पष्ट निर्देश बार-बार आता है। गीता में तो भगवान् श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने जीर्ण वस्त्र त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है ठीक उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर को त्याग कर नवीन देह को धारण करता है।[12] इस कथन से भी पुनर्जन्म की पुष्टि होती है। शास्त्र ग्रन्थों में वैदिक उक्तियों पर तर्कसम्मत विवेचन प्राप्त होते हैं। हमारे प्राचीन वाङ्मय में यम नचिकेता का संवाद प्रसिद्ध प्रमाण है एवं ऋग्वेद का 7/33 एक महत्वपूर्ण सूक्त है जिसमें एक जन्म की चर्चा एवं अन्य जन्मों के संकेत हैं। पाश्चात्य मत मे सामान्यतः पुनर्जन्म स्वीकृत नहीं है क्योंकि वहाँ ईश्वरेच्छा को ही सब कुछ मानते हैं, यदि व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है तो उसे अपने पहले जन्म की याद क्यों नहीं होती? भारतीय मत इसका उत्तर देता है कि अज्ञान से आवृत्त होने के कारण आत्मा अपने वर्तमान देह को देखती है और भविष्य बनाने का प्रयत्न करती है, पर भूत को एकदम भूल जाती है यदि अज्ञान का नाश हो जाए तो पूर्वजन्म का ज्ञान असंभव नहीं है। वर्तमान में तो प्रत्यक्ष रूप से ऐसी अनेक घटनायें देखने व सुनने में आती हैं। अमुक स्थान पर अमुक नाम का बच्चा है जो पूर्वजन्म की बाते बताता है। ऐसी ही अनेकों घटना दूरदर्शन तथा पत्रों में द्रष्टव्य होती हैं।

विचार पूर्वक अनुमान करने पर भी ज्ञात होता है कि पुनर्जन्म अवश्य होता है। वैसे तो आजकल इस पर अनेक घटनाऐं प्रमाण हैं। जगत् की विचित्रता देखने पर भी यही सिद्ध होता है। यदि पुनर्जन्म नहीं है तो सृष्टि विचित्र क्यों है? अतः ये विचित्रता ही पुनर्जन्म का सूचक है। पुनर्जन्म न मानने वाला सृष्टि की विचित्रता का प्रश्न करने पर निरुत्तर हो जाएगा। अतः परम प्रमाण वैदिक वाणी सदैव विचारकों के लिये माननीय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में पुनर्जन्म के जिस सत्य को सूत्रवत् कहा गया बाद के सभी आस्तिक ग्रन्थों में उसकी अभिवृद्धि होती गयी है।

संदर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
   ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति।।
   पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनद्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
   पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः।। ऋ.वे. 10/59/6-7
2. योऽसौ आस सोऽयं अस्मीति पुनर्हैवास्मिन् लोक आजायाते। जै.ब्रा. 2/106
3. पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्।
   वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्।। यजु. 4/15
4. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
   पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव।। अथर्व. 7/67/1

5. यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवती पापकारी पापो भवति.....तदभिसम्पद्यते।। बृहद. उप. 4/4/5-7
6. अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः।। ऋ.वे. 10/16/5
7. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।। यजु. 40/15
8. यन्मे यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरगास्तन्म आवर्त या पुनर्जीवातवे न मर्तवेथौ अरिष्टतातये। ता.ब्रा. 1/5/18
9. मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः।। निरु. 14/6
10. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। यो.द. 2/9
11. पूर्वाभ्यस्त स्मृत्यनुबन्धाद् जातस्य हर्ष भय शोक सम्प्रतिपत्तेः। न्याय. 3/1/19-20-22
12. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। गीता 2/22

✦✦✦

शं सरस्वती सह धीभिरस्तु। -अथर्व. 19.11.2
वेदमाता अपने अन्दर निहित ज्ञानों से हमें
सुख-शान्ति देने वाली हो।

स्तुता मया वरदा वेदमाता। -अथर्व. 19.71.1
मैंने वेदमाता का स्तवन किया है, वह वरदात्री है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। -अथर्व. 11.4.1
प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में सारा जगत् है।

प्राणः प्रजा अनुवस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। -अथर्व. 11.4.10
प्राण सब प्रजाओं का पालन करता है, जैसे पिता प्यारे पुत्र का।

प्राणं देवा उपासते। -अथर्व. 11.4.11
देवता भी प्राण की उपासना करते हैं।

प्राणो विराट्। -अथर्व. 11.4.12
प्राण एक बड़ी भारी शक्ति है।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (124-130) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

किं यास्कीय-निर्वचनानि उन्मत्तगीतानि?

युधिष्ठिरो मीमांसकः,

बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

*[अस्मिन् शोध प्रबन्धे निरुक्तशास्त्रस्य अर्थान्वाख्यानं प्रयोजनं न शब्दस्य मूलप्रकृते निर्देश इति परम्पराप्राप्त नैरुक्त व्याख्यादृशा संक्षेपेण सोदाहरणं निर्दिश्य व्युत्पत्तिशास्त्रं निरुक्तम् इति मन्यमानैर्यैर्मैक्डानल-राजवाडे-सिद्धेश्वरवर्मप्रभृतिभिर्नैरुक्त निर्वचनेषु विविधा दोषा निदर्शितास्तेषां समाधान मार्ग इहेङ्गितः स्वर्गतेन म.म.पं. युधिष्ठिर मीमांसकेन 1981 तमे वर्षे पञ्चमे विश्वसंस्कृतसम्मेलने वाराणस्याम्। इदं शोध पत्रं प्रस्तुवन् पण्डितवर्येण मीमांसकेन डिण्डिमघोषं कृतम् यत्-'पाश्चात्त्या विपश्चितस्तदनुयायिनश्च उभयोर्वेदाङ्गयोरेकमेव प्रयोजनमिति मन्यमानाः स्वयं भ्रान्ताः सन्तः पारोवर्यविदो नीरजस्तमसो यास्कस्य निर्वचनानां दूषणे प्रवृत्ता बभूवुः। **(सम्पा.)**]*

भगवता यास्केन प्रोक्तं निरुक्त-शास्त्रं शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दोज्योतिषाख्येषु षट्सु वेदाङ्गेषु चतुर्थे स्थाने परिगण्यते। षडङ्गेषु निरुक्तव्याकरणयोर्द्वयोः शास्त्रयोः संख्यानादिमे द्वे स्वतन्त्रे विद्ये इति स्पष्टं विज्ञायते। श्लोकात्मिकायाम् ऋक्शाखीयायां पाणिनीयशिक्षायां षण्णामपि वेदाङ्गानां षड्भिः शरीराङ्गैः साम्यमित्थं प्रदर्श्यते:-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥11॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥12॥

यथा पृथक्-पृथक् कार्यकारीणि शरीराङ्गाणि परस्परं भिन्नानि भवन्ति, तथैव शिक्षादीनां षडङ्गानामपि पृथक् पृथक्कार्यं भिन्नत्वं चोक्तश्लोकाभ्यां विस्पष्टमुक्तं भवति। एतेन श्रोत्रमुख-रूपयोर्निरुक्तव्याकरणयोः पृथक् पृथक् विद्यास्थानत्वमञ्जसा व्यज्यते।

संस्कृतवाङ्मये चतुर्दशविद्या अष्टादशविद्या वा स्वीक्रियन्ते। तत्र चतुर्दश-विद्या एवं विव्रियन्ते-

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्यास्त्वेताश्चतुर्दश[1]॥ वायुपुराण 61/78

दयानन्दसरस्वतीस्वामिनस्तु चत्वारो वेदाः, चत्वार उपवेदाः, षडङ्गानि संगृह्य चतुर्दश विद्या इत्याहुः।[2]

पूर्वोद्धृतासु वायुपुराणोक्तासु चतुर्दशविद्यासु चतुर उपवेदान् परिगणय्य अष्टादशविद्या-स्तत्रैवाग्रिम-श्लोक उच्यन्ते।[3]

उक्त विद्यास्थान-परिगणनेनापि निरुक्तव्याकरणयोः पृथग् विद्यास्थानत्वमुक्तं भवति। निरुक्तप्रवक्ता यास्कोऽपि निरुक्तव्याकरणयोः स्वतन्त्रं विद्यास्थानत्वं मनुते। तथा ह्याह-

अथापीदमन्तरेणार्थप्रत्ययो न विद्यते।.....तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यं स्वार्थसाधकं च।।1.15

अन्यत्रापि निर्वचनशास्त्रानधिकारिणः परिगणयन्नाह-**नावैयाकरणाय** (2.3) इति अर्थाद् यो व्याकरणशास्त्रं न वेत्ति तस्मै निरुक्तशास्त्रं नाध्यापनीयम्। एतेन निरुक्तशास्त्रं व्याकरणादुत्तरा स्वतन्त्रा विद्या इत्युक्तंभवति।

निरुक्तव्याकरणयोः पृथग्विद्यास्थानत्वे किमनयोः कार्यक्षेत्रमिति विचार्यते। तत्र व्याकरणस्य प्रयोजनं प्रकृतिप्रत्ययविभागेन शब्दस्वरूपस्य प्रतिपादनम् अर्थात् शब्दस्य साधुत्वान्वाख्यानम्। निरुक्तशास्त्रस्य तु प्रयोजनं शब्दात्मकेन शरीरेण सह योऽनुस्यूतोऽर्थरूप आत्मा तस्य निश्चयेन वचनम्। यद्यपि शब्दसाधुत्वान्वाख्यानेऽपि **हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ** (अष्टा. 3.2.25) **नौ वृ धान्ये** (अष्टा. 3.3.48) इत्यादिषु अर्थो निर्दिश्यते, तथापि तस्य निर्देशोऽन्वाचयरूपेण, न प्राधान्येन। शब्दस्वरूपान्वाख्यानस्यैव तत्र मुख्यता। एवं निरुक्तेऽर्थनिर्वचनेऽपि न शब्दस्वरूप-स्योपेक्षा भवितुमर्हति तदनुस्यूतत्वादर्थस्य, तथापि न तत्र शब्दस्वरूपनिदर्शनं विवक्षितम्। अत एव **'अथ निर्वचनम्'** इत्यधिकृत्य **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** (2.1) इत्युक्तम्। अस्यायमर्थः- अर्थे नियतः सन् अर्थात् लोकादिभ्यः पूर्वं शब्दस्यार्थम् अर्थान् वा यथावद् विदित्वा तस्य निर्वचनं कुर्यात्-अस्य शब्दस्यास्मिन्नर्थे प्रवृत्तौ किं कारणमिति ब्रूयात्[4]।

एवं च निरुक्तव्याकरणयोर्विषयभेदे सत्यपि आधुनिकाः पाश्चात्त्या विपश्चितस्तदनुयायिनो भारतीयाश्च निरुक्तव्याकरणयोर्विषयभेदमजानन्तो निरुक्तशास्त्रोक्तनिर्वचनानामपि तत्तच्छब्दस्य मूलप्रकृतिनिदर्शने तात्पर्यम् इति मन्यन्ते। सत्येवं स्वाज्ञानाद् नैरुक्तनिर्वचनानां तात्पर्यमगृह्णन्तस्तानि बहुधा दूषितवन्तः। एतन्निदर्शनार्थं प्रसिद्धतमानां त्रयाणां विदुषां यास्कीयनिर्वचनविषयका लेखा संक्षेपेणोपन्यस्यन्ते-

1. तत्र खलु मैक्डानलो ब्रवीति-'यास्ककाले वैदिकपदानां वास्तविकोऽर्थो विलुप्त आसीत्। स तु यथा कश्चिदन्धकारावृत्ते प्रकोष्ठेऽभीष्टं वस्तु ग्रहीतुमितस्ततो हस्तं चालयति, तादृगेव प्रयतते। तत्र प्रयतमानोऽपि तमर्थमनधिगम्यैव शब्दस्य बहुभ्यो धातुभ्यो व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य तद्विषये सन्देहद्योतनाय वा शब्दं प्रयुङ्क्ते। यथा-**'विराट् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा'** (नि. 7.13) इति।
2. अपरः खलु पाश्चात्त्यमतानुयायी डॉ. राजवाडे स्वसम्पादितनिरुक्तशास्त्रस्योपोद्घाते ब्रूते

क. 'नैतन्निरुक्तशास्त्रं विज्ञानात्मकम् अपितु विज्ञानस्योपहासकम्[5]।

ख. मयैतत् कथयितुं साहसः क्रियते यन्निरुक्तस्य निर्वचनविधिर्मूर्खतापूर्णः। सत्यप्येवमिदमद्य

यावद् विद्यास्थाने प्रतिष्ठितमित्येवाश्चर्यकरम्।[6]

ग. निरुक्ते बहूनि निर्वचनानि भावरहितानि कल्पितसिद्धान्ताश्रयणेनैव तदीयानि बहूनि निर्वचनान्यशुद्धानि। यानि त्वस्य शुद्धानि निर्वचनानि तेषां संख्या त्वल्पीयसी।[7]

3. इत्थमेवानेकभाषाविद् डॉ. सिद्धेश्वरवर्माऽप्याह–

क. यास्कस्य निर्वचनोत्साह उन्मत्तत्वसीमां प्राप्तोऽभूत्।[8]

ख. तस्य निर्वचनविषयकोन्मत्तता तस्य बुद्धिमपि नाशितवती। तस्य निर्वचनकल्पनादारिद्र्यं च विलक्षणम्। एतेन गम्भीरदोषेण तस्य निर्वचनानि व्यर्थानि, अनावश्यकानि, साररहितानि, सत्याच्च दूरं गतानि सन्ति। यास्क एतावदपि न बुद्धवान् यत्कस्यचिच्छब्दस्य लक्षणयापि कश्चिदर्थो लोके प्रथते। स लाक्षणिकस्याप्यर्थस्य पृथङ्निर्वचनाय प्रयतते।[9]

ग. अस्मद्गणनानुसारं यास्केन 1298 संख्यकानि निर्वचनान्युक्तानि। तत्र 224 संख्यकान्येव निर्वचनान्याधुनिकभाषाविज्ञानसम्मतानि। 225 संख्यकानि निर्वचनानि दुर्बोधानि सन्ति। 762 संख्यकानि प्रारम्भिकस्थितियुतानि अर्थात् अविकसितानि सन्ति।[10]

य एते निरुक्तशास्त्रविषयकाः केचन दोषाः पुरस्तान्निदर्शितास्ते सर्वेऽपि व्युत्पत्तिनिर्वचनयोर्भेदं व्याकरणनिरुक्तशास्त्रयोश्च व्यापारक्षेत्रभेदम् अपरिज्ञायैवोद्भासिताः सन्ति। एते खलु त्रयोऽपि महानुभावा निरुक्तशास्त्रं व्युत्पत्तिशास्त्रम् अर्थाद् व्याकरणवत्प्रकृतिर्निधारकं शास्त्रं मन्यन्ते। वस्तुतस्तु व्युत्पत्तिशास्त्रं तु व्याकरणशास्त्रमुच्यते। तत्रैव धातोः प्रातिपदिकाद्वा शब्दा व्युत्पाद्यन्ते। निरुक्तं तु निर्वचनशास्त्रम्। तच्च प्रतिशब्दं यथासम्भवमेकमनेकान् वाऽर्थान् ब्रूते। नहि तत्र शब्दानां प्रकृतिभूता धातवो निर्दिश्यन्ते। अपि तु कस्य शब्दस्य कस्मिन्नर्थे कस्माद्धेतोः प्रवृत्तिरस्तीत्येव चिन्त्यते। अत एव निरुक्तवृत्तिकृता भगवता दुर्गाचार्येणोक्तम्–

तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानम् अर्थनिर्वचनम्। व्याकरणं तुलक्षणप्रधानम्। नि.वृ.1.15

सायणाचार्योऽपि ऋग्वेदभाष्यस्योपोद्घाते निरुक्तशास्त्रस्य प्रयोजनम् अर्थनिर्वचनमेवाह– **एकैकस्य पदस्य सम्भविता अवयवार्थास्तत्र निश्शेषेणोच्यन्त इति [निरुक्तशब्दस्य] व्युत्पत्तेः।**

वस्तुतो निर्वचनशब्दस्यार्थोऽर्थान्वाख्यानमेवास्ति। अनन्तभट्टो भाषिकसूत्रव्याख्यान एवमाह– **निर्वचनं नामार्थस्यान्वाख्यानम्** (3.6)।

निरुक्तकारेणापि निर्वचनशब्दस्य प्रयोगोऽर्थान्वाख्यानायैव विहितः। स हि यत्र क्वापि तत्तच्छब्दस्यार्थनिदर्शनाय काञ्चिद् ऋचमुदाहृत्यापराम् ऋचमुदाहरति, तत्र सर्वत्र ऋगुदाहरणात्पूर्वं **'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय'** इति निर्दिशति। एतादृशेषु स्थलेषु निर्वचनशब्दस्यार्थान्वाख्यानमन्तरा नान्यः कश्चिदर्थः सम्भवति। यतो हि तादृशेषु स्थलेषु न शब्दस्यान्वाख्यानं दृश्यते।

एवम् **अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति** (7.24) इति यास्कवचनस्याप्ययमेवार्थः–द्वादशकपालादिषु या कपालसंख्या निर्दिश्यते न सा वैश्वानरशब्दस्यार्थनिश्चये साहाय्यं विदधाति।

यत्तु मैक्डानलमहोदयेनोक्तं तदप्यविचारितरमणीयमेव। नैव यास्कस्य काले वैदिकपरम्पराया उच्छेदः समजायत इति भारतीयपरम्परया भारतीयैतिह्येन च विस्पष्टं व्यज्यते। अतः **'एकस्य शब्दस्य बहुभ्यो धातुभ्यो व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य सन्देहद्योतनाय यास्को वा शब्दं प्रयुक्तवान्'** इत्युक्तिरपि तस्य चिन्त्यैव।

इदानीं नैरुक्तनिर्वचनान्यर्थप्रदर्शनायैव प्रवृत्तानि, न तत्तच्छब्दस्य प्रकृतिनिदर्शनायेत्यस्यार्थस्य स्पष्टतायै द्वयोः शब्दयोर्यास्कीयनिर्वचनान्युदाहृत्य यथाशास्त्रं व्याख्यायन्ते–

विराट् – विराट्शब्दस्य यास्केनैवं निर्वचनानि प्रदर्श्यन्ते–

विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा (7.13) इति इमानि विराट्शब्दस्य निर्वचनानि यस्मिन् सन्दर्भे पठ्यन्ते, तत्र पूर्वत्रोत्तरत्र च छन्दसां प्रकरणं विद्यते। तेनात्र कृतनिर्वचनो विराट्शब्दश्छन्दोनाम इति विस्पष्टम्। छन्दःशास्त्रेषु विराट्शब्दः त्रिष्वर्थेषु प्रयुक्तः। तथा हि–

1. दशसंख्यायाम्। यथा–**विराजो दिशः** (पिङ्गलसूत्र 3.5)। अस्यायमर्थः–**'पाद इत्यनुवर्त्तते। यत्र क्वचिद्विराजपाद इत्युच्यते, तत्र दशाक्षरः प्रत्येतव्यः'** (हलायुधवृत्तिः) इति। दश संख्या पूर्णसंख्याया उपलक्षिका लोके विज्ञायते।
2. द्व्यक्षरन्यूने छन्दसि। तथा चोक्तं पिङ्गलाचार्येण–**द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ** (3.60)। एतद्विवृण्वन् हलायुध आह–**'न्यूनाधिकग्रहणमनुवर्त्तते। द्वाभ्यामक्षराभ्यां न्यूनाधिकाभ्यां गायत्री यथाक्रमं विराट् स्वराट् संज्ञा भवति। एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम्'** इति।
3. एकादशाक्षरात्मके त्रिपादयुते (11×3=33 अक्षरात्मके) अनुष्टुप्छन्दसि। यथाह ऋक्सर्वानुक्रमणीकारः कात्यायनः–**दशकास्त्रयो विराट् एकादशका वा** (परि. 6।7–8)। अस्यायमर्थः–**'यस्मिन्नुष्टुभि दशाक्षरपरिमितास्त्रयः पादा, एकादशाक्षरमिता वा त्रयः पादा भवन्ति सा अनुष्टुप् विराड् इत्युच्यते।**

एवं छन्दःशास्त्रेषु त्रिष्वर्थेषु प्रयुज्यमानस्य विराट्शब्दस्यैव भगवता यास्केन **विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा** इति निर्वचनानि प्रदर्शितानि। उक्तानि निर्वचनानि यास्कः स्वयमेव व्याख्यातवान्–**विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा, विराधनादूनाक्षरा, विप्रापणाद् अधिकाक्षरा।**

एतेन हस्तामलकवद् विस्पष्टं भवति यद् विराट्शब्दस्य प्रकृतिः विपूर्वो राजृधातुः, विपूर्वो राधधातुः, विपूर्व आप्लृधातुरस्तीत्यत्रार्थे न यास्कस्याभिप्रायः। अपि त्वेकस्मिन् विराट्शब्दे विपूर्वकस्य राजृधातोर्ऽर्थः (विराजते पूर्णाक्षरत्वाद्विशेषेण प्रकाशते दीप्यते), अपरस्मिन् विपूर्वस्य राधधातोर्ऽर्थः (विगतं राधनं संसिद्धिर्यस्मात्), अन्यस्मिन् विपूर्वस्याप्लृधातोर्ऽर्थः (विशेषेण प्रापणमर्थादाधिक्यं यस्मिन्) स इह प्रदर्श्यते।

अयमेवाभिप्रायः सायणाचार्येणाप्युक्तः–**धातुत्रयार्थस्य तत्र संभवात्** (द्र. दैवत ब्राह्मण

खं. 3, विराट्शब्दव्याख्यानम्)।

उक्तार्थस्य दार्ढ्यायैकस्य द्वारशब्दस्य यास्कीयनिर्वचनान्यपीहोपस्थाप्यन्ते-

द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा। निरुक्त 8.9

भगवता यास्केन निरुक्तो द्वारशब्दो लोके त्रिष्वर्थेषु प्रयुज्यते '**द्वारं पिधेहि**' इत्यत्र द्वारशब्दो कपाटार्थे। स्त्रौघ्नं द्वारम्, माथुरं द्वारम् (यथा लोकभाषायाम् 'अजमेरीदरवाजा' 'आगरादरवाजा') अत्र नगराणां प्राचीरेषु निर्मितं यद् यद् द्वारं यस्य यस्य नगरस्याभिमुखं भवति, तस्य तस्य नगरस्य नाम्ना तत्तद् द्वारं व्यपदिश्यते। तदुक्तं पाणिनिना-**अभिनिष्क्रामति द्वारम्** (अष्टा. 4.3.86)। एतादृशेषु द्वारेषु यद्यपि कपाटानि भवन्ति, तथापि तानि रात्रिंदिवम् उद्घटितान्येव तिष्ठन्ति (केवलं युद्धकाल एव तान्यपिधीयन्ते)। अत एतादृशेन द्वारेणाप्रतिहतं गमनागमनं भवति। इत्थमेव जलावरोधेषु यदा जलं प्रस्रवणाय सूक्ष्मं मार्गं निर्माति, तदा 'जलेन प्रस्रवणाय द्वारं विहितम्' इति लोके प्रयुज्यते। अस्मिन्नेवार्थे लोकभाषायामपि 'पानी ने रास्ता बना लिया' इति व्यवह्रियते।

एवं च द्वारशब्दो लोके येषु त्रिष्वर्थेषु प्रयुज्यते तान् समीक्ष्यैव भगवता यास्केन द्वारशब्दस्य '**जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा**' इति त्रीणि निर्वचनान्युच्यन्ते। अत्र 'जवतेर्वा' इति निर्वचनमप्रतिहतगत्या यतो गमनागमनं भवति तादृशं द्वारशब्दमभिलक्षयति। यथा स्त्रौघ्नं द्वारम्, माथुरं द्वारम्। 'द्रवतेर्वा' इति निर्वचनं द्रवद्रव्याणां निस्सरणाय यत् सूक्ष्मं छिद्रं समुत्पद्यते, तद् बोधयति। 'वारयतेर्वा' इति निर्वचनं द्वारशब्दस्य कपाटार्थं ब्रवीति।

यत्तु मैक्डानलमहोदयेन 'यास्केन निर्वचनप्रसङ्गे प्रयुज्यमानो वा शब्दः सन्देहस्य द्योतकः' इत्युक्तं तदप्यविचारितरमणीयमेव नहि 'वा' शब्दः सन्देहस्य द्योतन एव प्रयुज्यते, अपितु विकल्पसमुच्चयावप्यस्यार्थौ इति कोषकारा अभिदधति। तेन एकः शब्दो यत्रानेकार्थो भवति तत्र प्रत्येकमर्थं बोधनाय विविधनिर्वचनानि प्रदर्शयन् यास्को वा शब्दं प्रयुङ्क्ते। यथा- यदा विराट्शब्दो दशाक्षरे प्रयुज्यते तदा तस्य पूर्णाक्षरत्वाद् विशेषेण राजनं प्रकाशनमर्थः, यदा द्व्यक्षरन्यूने छन्दसि प्रयुज्यते तदा तस्य विगतराधनमर्थः, अथाधिकाक्षरे छन्दसि, तदा सामान्य-प्राप्तेर्विशेषेणाधिकाक्षरप्राप्तिस्तस्यार्थः। एवं चार्थत्रयमुद्दिश्य प्रदर्श्यमानेषु त्रिषु निर्वचनेषु वाशब्दो विकल्पार्थकः, यद्वा समुच्चयार्थक उपपद्यते न तु तस्याऽऽशङ्काद्योतनं प्रयोजनं भवितुमर्हति। अपि च, निर्वचनशब्दस्य योऽर्थः-'**निश्चयेन वचनम्**' तत्र सन्देहस्यावकाश एव नास्ति, कुतस्तस्याऽऽशङ्काद्योतकत्वं सम्भवेत्।

प्राङ् निर्दिष्टैर्मैक्डानलप्रभृतिभिर्यास्कीयनिर्वचनेषु ये दोषा उपन्यस्तास्ते सर्वेऽपि तेषामज्ञान-मूलका एव। सर्वप्रथमं पाश्चात्त्यैर्विद्वद्भिर्यास्कीयनिर्वचनानि तत्तच्छब्दस्य मूलप्रकृतेर्निदर्शकानि इति मतमुपस्थापितम्, तदेव पाश्चात्यशिक्षादीक्षिता भारतीया अपि विद्वांसोऽन्धपरम्परान्यायेन परिबृंहितवन्तः। यदि नैरुक्तनिर्वचनानामपि मूलप्रकृतेर्निदर्शनमेव प्रयोजनमभविष्यच्चेन्न तद् व्याकरणाद् अभेत्स्यत। तथा सति निरुक्तव्याकरणयोः वेदाङ्गेषु पार्थक्येन परिगणनं नाभविष्यत्। पाश्चात्त्या विपश्चितस्तदनुयायिनश्च उभयोर्वेदाङ्गयोरेकमेव प्रयोजनमिति मन्यमानाः स्वयं

भ्रान्ताः सन्तः पारोवर्यविदो नीरजस्तमसो यास्कस्य निर्वचनानां दूषणे प्रवृत्ता बभूवुः। यथा त्वस्माभिर्भारतीयविदुषां मतेन यास्कीयनिर्वचनानामर्थनिदर्शनं प्रयोजनमिति व्याख्यातं तथा सति सर्वेऽपि दोषाः परिहृता भवन्ति।

यदपि डॉ. सिद्धेश्वरवर्मणोक्तम्–स यास्क एतावदपि न बुद्धवान् यत्कस्यचिच्छब्दस्य लक्षणयाऽपि कश्चिदर्थः प्रथते लोके। स लाक्षणिकार्थस्यापि पृथङ् निर्वचनाय प्रवर्तते इति। एतदप्यविचारितरमणीयम्। नहि क्वचिद् यास्को लाक्षणिकस्यार्थस्य निर्वचने प्रावर्त्तत। सामान्यादिकारणैर्यस्यपदस्यार्थान्तरे प्रवृत्तिर्भवति न तत्र यास्को निर्वक्ति, अपितु सामान्यादिकारणैरेव तस्यार्थान्तरप्राप्तिं निदर्शयति। तद् यथा–

पादः पद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः।
प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि। नि. 2.7

इह प्रथमं द्विपदां चतुष्पदां च यः पादरूपः शरीरावयवः तस्य पद्यतेर्निर्वचनमुक्तम्। यतो हि द्विपादः पद्भ्यां चतुष्पादश्च पद्भिः स्थानान्तरंयान्ति। तत्र गमनरूपोऽर्थो विद्यते। परन्तु **सोम क्रयण्याः सप्तमे पदे जुहोति** इत्यत्र यत् पदशब्दस्यार्थः स लाक्षणिकः। यत्र स्थाने सोमक्रयण्या गवा सप्तमं पदं निधीयते, तस्मिन् स्थाने जुहोतीति श्रुत्यर्थः। अत एव तमर्थं द्योतयितुं यास्केन **तन्निधानात् पदम्** इत्युक्तम्। अस्यायमर्थः–सोमक्रयण्याः गौः पादस्य निधानात् तत्स्थानमपि पदशब्देनोच्यते। प्रस्थपरिमाणस्य चतुर्थो भागोऽपि लोके 'पाद' (पाव) इत्युच्यते। तत्र प्रवृत्तिकारणं यास्केन **'पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः'** इत्यनेनोक्तम्। चतुष्पदां एकोऽवयवो यथा पाद इत्युच्यते तथा प्रस्थादीनां चतुर्थो भागोऽपि पादशब्देनोच्यते सामान्यात्। एतेन ग्रन्थेषु अध्यायानां प्रविभक्ताश्चत्वारो भागा अपि पादा इत्युच्यन्ते। परन्तु क्वचिद् अध्यायेषु अष्टौ पादा अपि भवन्ति यथा पूर्वमीमांसायाः तृतीयषष्ठदशमाध्यायेषु। तत्र पादशब्दस्य प्रवृत्तिकारणं यास्को व्याचष्टे–**प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि।** यथा प्रस्थस्याध्यायस्य च पादस्तस्यैकोऽवयवो भवति तथैव अवयवत्वसामान्यात् अष्टमादिषु भागेष्वपि पादशब्दः प्रवर्त्तते। एतेनैव पञ्चपाद्या दशपाद्याश्चोणादिपाठस्य पादा व्याख्याताः।

प्रसङ्गात् साहित्यशास्त्रसम्राजां मम्मटादीनां लक्षणाप्रसङ्गे उदाहृते द्वे उदाहरणे विचार्येते। कुशलः–**कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणयोगात्**[11]**।** विश्वनाथस्तु मम्मटवचः खण्डयन्नाह– **तदन्ये न मन्यन्ते कुशाग्रादिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्, अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्**[12] इति। वस्तुतः कुशलशब्दस्य 'कर्मणि कुशल' इति व्युत्पत्तिरेव न कश्चिद् वैयाकरणो ब्रूते। एवमेव प्रवीणशब्दस्य **प्रकृष्टोवीणायाम्**[13] इत्यत्रापि ज्ञेयम्। यदा तादृशी व्युत्पत्तिर्वैयाकरणैर्न क्रियते तर्हि अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् इति वचनमपि चिन्त्यम्। अपि च **'अपि कुशलं भवतः' 'कुशलान्न प्रमदितव्यम्'** इत्यत्र आरोग्यार्थे कथमपि लक्षणा न सम्भवति। वैयाकरणास्तु **'कुश वैदुष्यारोग्ययोः'** इति सौत्रधातोः 'कल' प्रत्यय विधाय कुशलशब्दं व्युत्पादयन्ति[14]। एवं प्रवीणशब्दोऽपि वैयाकरणानां मते प्रपूर्वाद् गत्यर्थाद् वीधातोर्णक् प्रत्ययान्त औणादिकः[15]। गतेश्च ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति त्रयोऽर्थाः तेन प्रकर्षेण वेत्ति जानातीति प्रवीण दक्षो निष्णात इत्यर्थः।

एतेन कुशलप्रवीणशब्दयोर्मुख्यार्थत्वे सम्भवति न लक्षणाऽऽश्रयितुयोग्या, न च अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तमिति समयोऽपि न्याय्यः।

इत्थमस्मिन् निबन्धे निरुक्तशास्त्रस्यार्थान्वाख्यानं प्रयोजनं न शब्दस्यमूलप्रकृतेर्निर्देश इति परम्पराप्राप्तनैरुक्तव्याख्यादृशा संक्षेपेण सोदाहरणं निर्दिश्य व्युत्पत्तिशास्त्रं निरुक्तमिति मन्यमानैर्यैर्नैरुक्तनिर्वचनेषु विविधा दोषा निदर्शितास्तेषां समाधानमार्ग इहेङ्गितः। उक्तदिशा नैरुक्तनिर्वचनानां व्याख्याने समस्ता अपि समुद्भाविता दोषा निराकर्त्तुं शक्यः।

ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि यानि निर्वचनान्युपलभ्यन्ते तेषामपि व्याख्यानस्यायमेव मार्गः। यथा **तमिन्धं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण** इत्यत्र नास्यायमर्थः–पुरा इन्द्रशब्दस्य स्थाने इन्धशब्दं प्रयुञ्जते स्म, कालान्तरेण तस्यैव इन्द्र इति रूपान्तरं बभूव। अपितु इन्धमिव इन्धधातोर्यो दीप्त्यर्थः स इदि परमैश्वर्ये इत्यस्यापि ज्ञेयः। तेनेह इन्द्र शब्दस्य दीप्त्यर्थो व्याख्यात इत्येव तात्पर्यम्। धातवश्चानेकार्थाः, धातुपाठे निर्दिष्टा अर्था उपलक्षणमात्रमिति समेषां वैयाकरणानां राद्धान्तः। अत एव सायणाचार्येण विपूर्वस्य राजृदीप्तौ इत्यस्य दीप्तिः, न्यूनता, विशेषप्राप्तिश्च त्रयोऽप्यर्थाः स्वीकृताः–**धातुत्रयस्यार्थस्य तत्र सम्भवात्** (दैवत ब्रा.3.12 भाष्यम्), इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।।

सन्दर्भाः पाद-टिप्पण्यश्च

1. अयं श्लोकः किञ्चित्पाठभेदेन विष्णुपुराणे (अंश 3, अ. 6, श्लो. 29) ऽपि पठ्यते।
2. चत्वारो वेदाश्चत्वार उपवेदाः षडङ्गानि च मिलित्वा चतुर्दशविद्याः (यजुर्वेदभाष्य 9.34)। इत्थमेव सं. 1927 वैक्रमाब्दे प्रकाशिते विज्ञापनेऽपि निर्देश उपलभ्यते (द्र. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग 1 पृ. 1-3, तृतीय संस्करण सं. 2037)।
3. वायुपुराण 61.79 वि. पु. अंश 3 अ. 6, श्लो. 290
4. अयमर्थोऽग्रे "विराट्" आदिशब्दानां निर्वचनव्याख्यया स्पष्टी भविष्यति।
5. निरुक्तोपोद्घात, पृष्ठ 41
6. तत्रैव, पृष्ठ. 41
7. तत्रैव, पृष्ठ 43
8. एटीमोलोजी आफ यास्क, पृष्ठ 3
9. तत्रैव पृष्ठ 8
10. तत्रैव, पृष्ठ 16 परन्त्विह निर्दिष्टा विविधनिर्वचनसंख्याः स्वयं ग्रन्थकारेणोपोद्घाते 12 तमे पृष्ठे संशोधिता उपात्ताः।
11. काव्यप्रकाश 2.9 व्याख्यायाम्।
12. साहित्यदर्पण 2.5 व्याख्यायाम्।
13. कोषव्याख्याकारा अपि प्रायेणेत्थमेव व्युत्पादयन्ति।
14. दशपाद्युणादिवृत्तिः 8.9
15. प्रकर्षेण वीयते गम्यते प्रवीणः (हैमोणादि 183) इति णक् इत्यभिधानचिन्तामणि व्याख्यायां हेमचन्द्राचार्यः कर्मणि व्युत्पादयति।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (131-134) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

स्कम्भो नाम ज्येष्ठं ब्रह्म

प्रो. मानसिंहः
नवीनं नेहरुनगरम्,
रुड़की (जनपदम्-हरिद्वारम्)
उत्तराखण्डम्

अथर्ववेदे (10.7-8) ज्येष्ठब्रह्मणः स्कम्भस्य वर्णनं समुपलभ्यते। स्कम्भशब्दोऽयं स्कभि प्रतिबन्धे स्तम्भने वेत्येतस्माद् भौवादिकाद् धातोर्निष्पद्यते। धातुरयं भारोपीयभाषायां √स्कभ्, स्कम्भ् आश्रये स्थितौ वा, लैटिनभाषायाञ्च √स्कभ्नुम् (स्कभ्नोम्-जुलिअस पॉकोर्नी) इति रूपे प्राप्यते[1]। "यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थम्" (ऋ. 1.154.1; अथर्व. 7.26.1; वा.सं. 5.18; तै.सं. 1.2.13.3; मै.सं. 1.2.9, 19.9, 3.8.7, 105.5; कौ.सू. 2.10; श.ब्रा. 3.5. 3.21); "स्कभायत निर्ऋतिं सेधतामतिम्" (ऋ. 10.76.4; तै.ब्रा. 2.8.2.2); "स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था महीं क्षेमं रोदसी अस्कभायत्" (अथर्व. 4.1.4); "समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति" (अथर्व. 20.94.8) इत्यादिषु मन्त्रेष्वयमेव धातुः प्रयुक्तः। सर्वधारकत्वात्सर्वस्थितिहेतुत्वाच्च पुरुषो ब्रह्म वास्मिन्सूक्तद्वये स्कम्भसंज्ञया व्यपदिश्यते।

स्कम्भस्याङ्गेष्वेव पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोका उच्चतरद्युलोकात्परो भागश्च स्थिताः (10.7. 3); तत्रैव सर्वे लोकाः कोशाश्च विद्यन्ते-"यत्र लोकांश्च कोशांश्च".....(10.7.10)। भूमिस्तस्य प्रमा (एकपादप्रमाणम्); अन्तरिक्षं तस्योदरं द्युलोकश्च तस्य मूर्धा-

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ (10.7.32)

स्कम्भ एव द्यां पृथिवीं च, विस्तीर्णमन्तरिक्षं षडुर्वीश्च धारयति (10.7.35); तेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः (10.8.2)। वस्तुतस्त्वस्मिन्नात्मवति स्कम्भ एव प्राणन्निमिषच्च यदपि विद्यते तत्सर्वं तिष्ठति-"स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्च यत्" (10.8.2)।

सर्वे देवाः स्कम्भात्मकास्तदाश्रिता वा। अग्निचन्द्रमातरिश्वादीनां समेषां देवानां स्वस्वकर्मगतं सामर्थ्यं स्कम्भादेवाप्तम् (10.7.2)। प्रजापतिः सकलान् लोकान् तस्मिन्नेव स्तब्ध्वा धारयति-"यस्मिन्तस्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्" (10.7.7)। त्रयस्त्रिंशद्देवाः सर्वे तस्यौवाङ्गे समाहिताः-"यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः" (10.7.13)। ये पुरुषे स्थितं ब्रह्म जानन्ति ते परमेष्ठिनं जानन्ति; यः परमेष्ठिनं जानाति, प्रजापतिञ्च यो वेद, ये च ज्येष्ठं ब्रह्म विदन्ति ते सर्वाधारत्वात् स्कम्भमनुसंविदन्ति-

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः। (10.7.17)

त्रयस्त्रिंशद्देवाः स्कम्भस्य विविधेष्वङ्गेषु विभक्ताः, ब्रह्मविद एव केवलं तान् जानन्ति नेतरे–

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेकं ब्रह्मविदो विदुः।। (10.7.27)

वैश्वानरोऽग्निस्तस्य स्कम्भस्य शिरः, अङ्गिरसश्चक्षुः, यातवोऽङ्गानि, ब्रह्म मुखं, मधुकशा जिह्वा (10.7.19); अथवा सूर्यः पुनर्णवश्चन्द्रमाङ्गिरसश्च तस्य चक्षुः, अङ्गिरास्यं, वातः प्राणापानौ, दिशः प्रज्ञानसाधने श्रोत्रे (10.7.33-34)। त्रयस्त्रिंशद्देवास्तस्य निधिं सर्वदा रक्षन्ति (10.7.23)। सर्वे देवास्तस्मै स्कम्भायापरिमिताय सदा हस्ताभ्यां, पादाभ्यां, वाचा, श्रोत्रेण, चक्षुषा स्वीयैः सवैरङ्गैश्चामितं बलिं प्रयच्छन्ति, तमेव यज्ञियं सततं यजन्ति–

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।। (10.7.39)

स एव भुवनस्य मध्ये महद् यक्षं यक्षणीयं यजनीयं वा तत्त्वम्–"महद्वृक्षं भुवनस्य मध्ये" (10.8.15)। न तमत्येति किञ्चन, ततः सूर्य उदेति तत्रैव चास्तं गच्छति–

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन।। (10.8.16)

सर्वं तस्यैव नियन्त्रणे विद्यते। सर्वे देवा मनुष्याश्च स्कम्भेऽरा नाभाविव श्रिताः–"यत्र देवाश्च मनुष्याऽश्चारा नाभाविव श्रिताः" (10.8.34)। तमेवाश्रित्याग्निसूर्यचन्द्रवाय्वादयो देवास्तिष्ठन्ति (10.7.12)।

कालोऽपि स्कम्भमाश्रित्यैव तिष्ठति। संवत्सरेण सह संविदाना मासा अर्द्धमासाश्च स्कम्भमेव स्वाश्रयं यन्ति, एवमेव ऋतव आर्तवाश्च (ऋतुषु भवाः पदार्थाश्च) तमेव गच्छन्ति (10.7.5); तमेव लक्ष्यीकृत्य विरूपे (विरुद्धरूपे) युवती अर्थादहोरात्रे संविदाने (परस्परं मिलित्वा) द्रवतः (10.7.6)। एते विरूपे युवती (अहोरात्रे) षण्मयूखं (षड्ऋतुरूपं) तन्त्रमेकं वयतः, तयोरेका तन्तून् प्रतिरतेऽन्या च तान् धत्ते, ते न कदापि विश्राम्यतः, न च विरमतः (10.7.42)। स्कम्भात्सनातनादेवाहोरात्रे जायेते–"अहोरात्रे प्रजायेते" (10.8.23)। तत्र द्वादश प्रधयः (द्वादश राशयो मासा वा), एकं चक्रं (संवत्सरः), त्रीणि नभ्यानि (शीतग्रीष्मवर्षा इति प्रमुखास्त्रय ऋतवः) विद्यन्ते, तस्मिन् चक्रे च षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्याकाः शङ्कवः (360 दिवसाः), तत्येव चाविचलाः खीलाः (360 रात्र्यः) सुदृढमाहताः, एतान् केवलं स्कम्भ एव जानाति–

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचलाः ये।। (10.8.4)

स्कम्भ एव भूतं, भव्यं, सर्वं वर्तमानञ्चाधितिष्ठति[2], तच्च सम्यग् जानन् चरति–"यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति" (10.8.1) "ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्विद्वान्भूतमुत भव्यमस्य" (10.8.12)।

सर्वं स्कम्भे प्रतिष्ठितम्। तपः, ऋतं, व्रतं, श्रद्धा, सत्यम्, आपः, ब्रह्म, सर्वे लोकाश्च, प्रथमजा ऋषयः, ऋक्सामयजूंषि[3], मह्येवं सर्वमपि तत्र समाहितम् (10.7.1, 11, 14, 20, 30)। तस्मिन् स्कम्भरूपे पुरुषेऽमृतं मृत्युश्च समाहिते (10.7.15)[4]।

अथर्ववेदे स्कम्भस्य सर्वव्यापकत्वमपि सम्यक् प्रतिपादितम्। प्रजापतिना यदपि परममवमं मध्यमञ्च विश्वरूपं सृष्टं तस्मिन् स्कम्भः प्रविवेश (10.7.8)। स्कम्भ एवासच्च सच्च मिलिते–"असच्च यत्र सच्चान्तं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः" (10.7.10)[5]। जना असच्छाखां स्थिरां परमं तत्त्वमिति मन्यन्तेऽपरे च तत्सदिति मत्वोपासते–

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परमिव जनाः विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते।। (10.7.21)

बृहन्तो देवा असतः परिजज्ञिरे; तदसज्जना ज्ञानवन्तः स्कम्भस्यैकमङ्गं मन्यन्ते (10.7.25)। हिरण्यगर्भोऽपि स्कम्भेनैव सृष्टः (10.7.28)। आत्मरूप इन्द्रोऽपि[6] स्कम्भ एव; यथा स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितं तथैवेन्द्रेऽपि–"स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्" (10.7.29); "इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्" (10.7.30)। वस्तुतस्तु यद् विश्वरूपं तत्त्वमेजति, पतति, तिष्ठति, प्राणदप्राणन्निमिषद् भवच्च वर्तते तत्सम्भूयैकमेव–

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्।
तद्धारा पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूयं भवत्येकमेव।। (10.8.11)

तदेव प्रजापतिर्भूत्वादृश्योऽपि गर्भेऽन्तर्बहुधा विजायते, सोऽर्धेन विश्वं भुवनं जनयत्यर्धञ्च तस्यालक्ष्यमेव तिष्ठति–

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः।।[7] (10.8.13)

स एव स्त्री, पुमान्, कुमारः, कुमारी, जीर्णो (वृद्धो)ऽपि च जातः (10.8.27)। स एवैषां पिता, स एवैषां पुत्रः, एको ह देवो मनसि प्रविष्टो गर्भेऽन्तर्गच्छति, स एव प्रथमो जातः–"एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः" (10.8.28)। समीपस्थोऽपि स न जहाति, समीपस्थोऽपि स न दूक्पथमायाति, अस्य देवस्य जगद्रूपं काव्यं न म्रियते न च जीर्यति–

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।। (10.8.32)

जगदिदं पूर्णात्पूर्णं विद्यते, पूर्णं पूर्णेन सिच्यते–"पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते" (10.8.29)।[8] अस्मिन्नेव विततते सूत्र इमाः प्रजा ओताः, एतदेव सूत्रस्यापि सूत्रं वर्तते (10.8.38)। स्कम्भः सृष्टिं कुर्वन् स्वाङ्गमेवैकं पुराणं विवर्तयति–

यत्र॑ स्क॒म्भ प्र॑ज॒नय॑त् पुरा॒णं व्यव॑र्तयत्।
एक॑ं॒ तदङ्गं॑ स्क॒म्भस्य॑ पुरा॒णमनु॑संवि॑दुः।। (10.7.26)

स्कम्भोऽस्मिन्नखिले भुवने प्रविष्टः–"स्क॒म्भ इ॒दं विश्व॑ं भुव॒नमावि॑वेश" (10.7.35)। स हृदयगुहायां सञ्चरति[9], तत्रेदमेजत्प्राणत्सर्वमार्पितं प्रतिष्ठितञ्च–

आ॒विः सन्नि॑हि॒तं गुहा॒ ज॒न्नाम॑ महत्पदम्।
तत्रे॒दं सर्व॒मार्पि॑त॒मेज॑त्प्रा॒णत्प्रति॑ष्ठितम्।। (10.8.6)

स्कम्भरूपं ज्येष्ठं ब्रह्मैव शरीररूपिणि त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिर्गुणैरावृते नवद्वारे पुण्डरीके यक्षत्वेन (यजनीयतत्त्वरूपेण) वसति (10.8.43)। सोऽकामो धीरोऽमृतः स्वयंभूर्देव आनन्दात्मकेन रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः, तं धीरमजरं युवानमात्मानं जानन् विद्वान् मृत्योर्न बिभेति–

अ॒क॒ामो धीरो॑ अ॒मृत॑ः स्वयंभू रसे॑न तृ॒प्तो न कु॒त॑श्च॒नोन॑ः।
तमे॒व विद्वान्न बि॑भाय मृ॒त्योरा॒त्मान॒ं धीर॑मजरं युवा॑नम्॥ (10.8.44)

अत एव **"स्क॒म्भ इ॒दं सर्व॑म्"।**[11]

सन्दर्भाः पादटिप्पण्यश्च

1. मोनिएर विलिअम्स, मोनिएर, ए संस्कृत-इङ्गलिश डिक्शनरी, ऑक्सफोर्ड, 1956, पृ. 1256-1257, स्कम्भ्
2. ऋग्वेदः, 10.90.2 : पुरु॑ष ए॒वेद॑ं॒ सर्व॑ं॒ यद् भू॒तं यच्च॒ भव्य॑म्।
3. उपरितनो ग्रन्थः, 10.90.9 :
   तस्मा॑द्य॒ज्ञात्सर्व॑हुत॒ ऋचः॑ सामा॑नि जज्ञिरे।
   छन्दा॑ंसि जज्ञिरे॒ तस्माद्य॒जुस्तस्मा॑दजायत॥
4. उपरितनो ग्रन्थः, 10.121.2 : यस्य॑ छा॒यामृतं यस्य॑ मृत्यु॒ः कस्मै॑ दे॒वाय॑ हु॒विषा॑ विधेम।
5. उपरितनो ग्रन्थः, 10.129.4 : स॒तो बन्धु॒मस॑ति॒ निर॑विन्दन् हृ॒दि प्र॒ती॒ष्या॑ क॒वयो॑ मनी॒षा। श्रीमद्भगवद्गीता 9.19 : सदसच्चाहमर्जुन।
6. कौषीतकिब्राह्मणम् 6.14 : तस्मादाहेन्द्रो ब्रह्मेति।
7. ऋग्वेदः, 10.90.3 : पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भूतानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि। 10.90.4 : त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त् पुरु॑ष॒ः पादो॑ऽस्येहाभ॑व॒त् पुन॑ः। 10.90.1 : स भूमि॑ं॒ वि॒श्वतो॑ वृ॒त्वाऽत्य॑तिष्ठद्दशाङ्गु॒लम्।
8. तैत्तिरीयारण्यकम् 10.20.10 : तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। ईशोपनिषद् 1 : ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। ईशोपनिषच्छान्तिपाठः
   पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
   पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
9. श्रीमद्भगवद्गीता, 15.15 : सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।
10. मुण्डकोपनिषद् 2.2.7 : आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।
11. ऋग्वेदः, 10.90.2 : पुरु॑ष ए॒वेदं सर्व॑म्।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (135-142) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

The Four *Varṇas*: A Vedic Concept of Division of Society

Prof. Shashi Tiwari

Former Prof. of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi, New Delhi & Secretary
General, WAVES, New Delhi

Nothing dominates the life of a Hindu more than religious institution; and no institution is more tyrannical in its influence than the caste-system. Its ugly inconsistencies and bitter tyranny have gone far to make the Hindu community what it is generally looked upon today. The impact of this single institution has been immense on the structural growth of Hindu society. This is not a place to refute or justify this system, but we are only concerned with the question where there is anything like the present caste-system evidenced by the hymns of the *Rigveda,* the oldest text of *Śruti* literature, regarded as the final evidence *(param pramāṇa* . Do the other Vedic texts mention the caste-system? Do we find out the origin of present caste system in the Vedic Scriptures? What was its original form in India? In reference to these questions here an effort is made for the analytical study of the *Śruti* literature to know the Vedic concept of division of society which later developed as the basis of *Jāti*-system.

Generally we consider Vedas as the treasure-house of all knowledge and foundation of all Indian ideologies pertaining to society, religion and philosophy. But nothing like the present divisions and subdivisions found in contemporary Hindu society has any place anywhere in ancient Vedic literature. It has often been observed that no trace of caste system can be recognized in the Ṛgveda. For example the Creator (Vishvakarmā, Tvaṣṭā) is what would now be called a *Sūdra.*[1] In the Ṛgveda two words – *Charṣaṇi* 'wanderer' and *Kṛṣ-i* 'Ploughman' are generally used for 'folk' or 'people' indicating them typically agricultural. In many passages *Pañcha Charṣaṇayaḥ* or *kṛṣ-ayaḥ* replace the more usual *panñcha janāḥ*.[2] Although the four characteristic functions of priest, ruler, farmer, and craftsman are distinguished, one and all of these are 'ploughmen'. What this implies is a state of affairs in which the individual of a given type is still in full possession of all the possi-

bilities of being in the mode of that type. A caste system on the other hand reflects a posterior condition in which the individual realizes in himself only a part of the potentialities that are proper to the type generically; priest, king, etc., are now specific determinations, the names alluding to the one and only function which the individual can properly fulfill, and which is his 'vocation.'[3]

I

In the Vedas we find *Brahma* and *kṣatram*[4] two words simultaneously used for denoting intellect and strength, thus indicating two types of persons having intellectual and physical excellence. These two living palladiums can also be seen in the Roman concept of state[5]. In addition to, *Brāhmaṇa, Kṣatriya*, *Vanik,* and equivalent terms are used disjointedly in the Rògveda and Atharvaveda to refer specific individuals with certain qualities.

Brāhmaṇa are called followers of certain tenets and regulations (*vrata*)[6] ; they drink Soma and recite *Mantras*[7] ; as *Vipra* they are magnificent [8] and have good conduct[9]. Besides this *Vipra*, *Dvija* and *Brahmaṇaspati* terms are also explained by ancient commentators for the meaning of *Brāhmaṇa* in the Ṛgveda. The word *Brāhmaṇa* is used frequently in the Atharvaveda[10]. Another term '*kṣatriya*' is seldom used independently in the Ṛgveda[11] and Atharvaveda [12] denoting the person of discipline, strength and vigor; while the word *ksòatra* also represents these qualities. The third category of persons is indicated by the terms *Vanika, Viśa*[13] who have money, and never-ending treasures and also by *Vaiśya*[14].

Earliest reference of four classes of society is found in the Ṛgveda[15]. This authoritative passage referring four-fold division is in the hymn known as *Puruṣa- Sūkta.* The term *Varṇa* is not used here. It only refers to the division of society, comparing it to the different organs of the human being. This *Sūkta* describes Creator as verily 'all this' visible world and 'lord of immortality'[16]. Here creation is described through a metaphor of sacrifice i.e.'*Yajña*' where different parts and things of universe are created by gods performing the sacrifice with *Puruṣa* as offering. This imaginary sacrifice shows that this all universe is nothing but the Creator himself. *Puruṣa* is the spiritual cause and effect of material creation, it is from him, not from the ideal or real sacrifice, that all things originate. *Ṛṛk, Sāman, Yajuṣ, Chandas, Aśva, Go* etc. were produced from him. The eleventh *Mantra* put a question, 'When they (gods) immolated *Puruṣa,* into how many portions did they divide him? What was his mouth called, what his arms,

what his thighs, what were his feet called?'

The twelfth *Mantra* answers, 'His mouth became the *Brāhmaṇa*, his arms became the *Rājanya*, his thighs became *Vaiśya,* the *Sūdra* was born from his feet.'

Brāhmaṇo asya mukhamāsīt bāhū rājanyaḥ kṛtaḥ/
Urū tadasya yadvaiśyaḥ padbhyām śhūdro ajāyata//

The *Mantra* has allegorical significance behind it. The verse says that 'The mouth of the *Puruṣa* became *Brāhmaṇa*'. It means the *Brāhmana* has not come from the mouth of this primary being, *Puruṣa*, but his mouth became the *Brāhmanical* division, that is to say, was transformed into it. Mouth is the seat of speech. The allegory thus points out that the *Brāhmaṇas* are teachers and instructors of mankind. If the two arms of the *Puruṣa* are said to have been made a *Rājanya (Kṣatiya*), that means then, that he has to carry arms to defend the empire and to protect the people. The arms represent the symbol of strength and valor. The thighs of the *Puruṣa* were transformed into the *Vaiśya* means that, as the lower parts of the body are the principal repository of food taken; the *Vaiśya* class is destined to provide food to the people. The creation of the *Sūdra* from the feet of the *Puruṣa* indicates that he is destined to be a servant to the others, just as the feet serves the other parts of the body as a firm support. It is this verse which is generally put forth as foremost evidence from Ṛgveda for the determination of four-fold division of society, which is later known as four *Varṇas*.

Here the whole social organization is conceived symbolically as one human being with its organs representing the different social classes. In fact, the *Puruṣa* refers to mankind as a whole. It is important to note that body of *Puruṣa* is here a metaphor for the human- society. This shows the principle of integration and co-ordination that will have to be maintained for the smooth functioning of the society and the body too. As each part has to perform its duty in order to maintain the strength of the body, so the different classes have to live in harmony for a healthy society. As all limbs of a body are important for a human being so are all the classes of the society. All limbs according to their functioning power and capacity used to work for the benefit of the whole body so these classes must do, this is indicative. If one part of the body quarrels with another part of the body, the whole body has to suffer including those parts. All are interlinked and therefore, the question of superiority or inferiority of *Varṇa* does not arise.

It establishes the principle that these four types of people performing their duties and responsibilities can build a prosperous and

harmonious society. In Vedic view there is no discrimination among these classes, rather according to qualities their activities are assigned.

II

The *Puruṣa Sūkta* is regarded by many scholars as being late production on account of several indications on its modern character. Thus it is argued by them that even the conception of the four divisions of men is foreign to the Ṛgveda.

Other scholars, however, hold that the hymn may not be necessarily regarded as modern in character, because such speculative notions are met with in about every part of the Ṛgveda and here allegory is most significant and enlightening. The hidden allegorical sense must be explained. According to the Ṛgveda, Ṛgvedic verse, the primal man, *Puruṣa* created human society from himself. This *mantra* is regarded as an evidence for the determination of caste by birth. *Mantra* says: 'The different classes (i.e.*Varṇas)* were created from different parts of his body. The *Brāhmaṇa*s were created from his head; the *Kṣatriyas* from his hands; the *Vaiśyas* from his thighs and the *Sūdras* from his feet'. The supremacy of these classes can be determined by the descending order of the different organs from which these were created. The *Brāhmaṇas* are instructors of mankind. The *Kṣatriyas* have to carry arms to defend the empire. The *Vaiśyas* have to provide food for others. The *Sūdras* are servants to the others. On the basis of this, some religious theory claims that the *Varṇas* were created from the body organs of Brahmā, who is the creator of the world. Even the passage from Gītā which affirms that the fourfold division of caste depends upon qualities and actions as opposed to birth,[17] is interpreted by some scholars differently laying stress on the word '*Śriṣ-am*' to prove that castes are by birth. The Vedic *mantras*, having mysterious connotations, may be explained variously due to their deep meanings '*Annataḥ hi Vedārthāḥ*'.

III

The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad [18] states that in the very beginning Brahman was all alone and so he was not able to perform magnificent actions, so he created *Kṣatriyas* and *Kṣatriya* deities as Indra, Rudra, Parjanya, Yama. *Brāhmaṇas* were there to perform *Rājasūya Yajña* for them. Soma is Brāhmaṇa deity. He was not able to perform without people of trading, so he created *Viśa* and their deities as Vasus, Marut, Adityas and Rudras. These deities are in group because generally a group of people is able to do business. Even being with them, Brahman was not able to perform as he need service class, therefore he created

Śūdras. Puṣā deity represents *Śūdra* because he serves the whole earth. Finally, He created *Dharma* to control them all. Here we see that all the four classes are told essential for the proper performance of any deed, even by Brahman, and deities are classified in the same way on the basis of their actions and attributes. This passage shows that the ordering of society has been constant endeavor of Vedic Seers.

IV

It is important to note that according to Vedic point of view, *Varṇas* were not a barrier to gain knowledge, as knowledge can be imparted to anyone who is desirous from a person who is knowledgeable . All have a right to get knowledge. No one can claim to be knowledgeable due to his position or family. Similarly due to the mode of livelihood no one can be condemned. In the Upaniṣads, there are so many instances where we see that people of any *Varṇa* would go to a knowledgeable person of any *Varṇa* for instructions in the field of higher intellectual pursuit. Father of Śvetaketu, Uddālaka Āruni went to kind Prāvahaṇa to gain the knowledge of Brahman. With the same intention King Jānaśruti approached to charioteer Raikva in the Chāndogya Upaniṣad. Another story in the Chāndogya Upaniṣad says that Rishi Uddālaka Āruni inspired five Brāhmaṇas to go to King Aśvapati for the higher pursuit of Self-knowledge. Hence, stories of Upaniṣads highlight the importance of scholarship above *Varṇa*.

Social mobility was not hindered at all for any reason of any *Varṅa* in ancient times. The Sun God advised Sāmba, son of Śri Kṛṣṇa, to go to Sākadvipa, and bring the Maga priests well versed in the ritual of sun-worship who alone could cure his leprosy. A whole Purāṣa, Sāmba Purāṇa, narrates that 18 Maga families traveled to India, settled down at Mitravana and established their cult of the Sun in Sāmbas temple.

V

The Vedic classification of society into four classes later known as *Varṇas* was aimed at the distribution of duties and responsibilities in order to build a healthy and prosperous society. The four *Varnas* have been referred to the four classes of the society and these have been determined by the natural tendencies, qualities and actions of the persons. In the *Varṇa* system, natural tendencies and profession are correlated. In later times *Varṇa* came to be loosely interpreted as caste. The word *Varṇa* is derived from the Sanskrit root *vṛ* which means 'to choose' or 'the select'.

An individual is capable of choosing his path of life which will be in conformity with his innate tendencies or temperaments. Four categories of innate tendencies are said to be found in man which are bases on three qualities (*Guṇas*). The biological theory claims that all existing things - animated and in-animated, inherent three qualities in different apportionment. *Sattva* qualities include wisdom, intelligence, honesty, goodness and other positive qualities. *Rajas* include qualities like passion, pride, valor and other passionate qualities. *Tamas* qualities include dullness, stupidity, lack of creativity and other negative qualities. People with different doses of these inherent qualities adopted different types of occupation. According to this theory who inherent *Sattva* qualities are the *Brāhmaṇas*. Who inherent *Rajas* qualities are *Kṣatriyas* and Vaiśyas. And who inherent *Tamasa* qualities are the *Śūdras*. This principle to classify *Varṇas* point out that *Varṇa* are not fixed by birth or any other way, rather they can be changed after word. Rishi Viśvāmitra is its example.

Strictly speaking caste it is not *Varṇa*, it is *Jāti* .The word *Jati* is derived from the Sanskrit root *jan* which means 'to take birth'. The seed of caste system was sown in the community on the basis of *Varṇa* system when qualities of a man became indecisive of his personality and nature. In the new setup, a group of *Brāhmaṇa,* named priests, became powerful and made the kings subordinate to themselves. The new elite were more concerned with the enjoyment of power, status and wealth, for which purpose they engaged themselves in the task of elaborating the concept of *Brāhmaṇas* at the cost of neglect of previous spiritualism and scholarship[19]

VI

Every practice has its positive side too. The *Varṇa* system enlarged as *Jāti* system in India kept away the invaders socially, as they could not penetrate families by marrying them. The womenfolk sanctified by the *Varṇa* structure led to the preservation of our culture. The four *Varṇas,* though reproduced into thousand of *jātis*, yet they kept the foreign hordes at bay from all sorts of relationship for thousand years. *Varṇa* and *Jāti* with all their prohibited elements became the defender of our cultural continuity and social integration. Caste system played a useful role in the cultural history of India. The occupation of a caste was passed on from one generation to another. This system helped sufficiently in the preservation of several arts and crafts in ancient Indian society. Every phenomenon has a negative aspect, and negative *Varṇa-jāti* fence stopped social growth variously as we see today artificial distinction between different sections of the society which led

to restriction of education for women, inequality, untouch-ability, discrimination at sacred places, restriction in matrimonial alliances etc. This now dominates political spectrum also. With modernity, we continue to treasure our social norms whose core and primary unit is *Varṇa* and *Jāti*.

The four pillars sustaining our society were power of intellect, law and order by governance, economic development, and dynamic activity of labour. They were crystallized in Hindu society as follows the *Brāhmaṇa* as keeper of intellection and sanctity, the *Kṣatriya* as defender of social order, the *Vaiśya* as the productive management of economy , and finally the *Śūdra* as the work force. All the four were interactive ingredients of a healthy and strong order. The two greatest poets of India, who authored the epics of Rāmāyaṇa and Mahābhārata were born in low *Varṇa* according to popular sayings. They are the most venerated sages, and have been the most powerful formative authority in our ethos who influenced the whole literary traditions of all the Indian languages. It indicates that *Rishis* can be born in any *Varṇa*.

According to Vedic teaching, the ultimate aim of each and every human being is realization of the Divine and Self-fulfillment. Therefore, the pursuits of our entire life should be directed towards this end. The *Varṇa* System was invented to help man to move collectively towards this end, for man is not merely the body, but he is much more than the body; he is the body as well as spirit. The main noteworthy point that emerges from this study is that the idea of classification of society into four groups is originally of Vedic Seers having intention to highlight inner quality based work- structure in the society. Nothing like caste was determined by birth. Duties of a person appear to have been based on activities rather than heredity. Undoubtedly it may be assumed that later developed caste system has its root in the *Varṇa* system of Vedic period.

References

1. Vidyanivas Mishra(Ed.),*Perception of the Vedas,* Ananda K. Coomaraswamy, Indira Gandh For National Centre for Arts, New Delhi, 2000, p.110
2. *Ṛgveda* (RV) 5.86.2,7.15.2,9.101.9
3. Vidyanivas Mishra (Ed.),*Perception of the Vedas,* Ananda K. Coomaraswamy, Indira Gandh For National Centre for Arts, New Delhi, 2000, p.110-11
4. *Brahma ca kṣatram ca. Yajuveda 32.16 ;Kathopanishad 1.2.25*
5. *Varna-Jati System'* written by Lokesh Candra , IN *Sanskrit Vimarsh*, Journal of Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 2011, Vol.5, P.191
6. RV 7.103.1

7. RV 7.103.8
8. RV 1.82.2
9. RV1.8.6
10. *Atharvaveda* (AV) 5.17.1;12.5.4;5.18.1,4;519.6;12.5.11
11. RV 4.12.3,8.67.1, 8.25.8
12. AV 4.22.1;7.103.1
13. RV 1.112.11, 5.45.6
14. AV 5.17.9
15. RV 10.90.12
16. *Puruṣa evedam sarvamā* RV 10.90.2
17. *Chāturvarṇyam mayā sṛṣ-am guṇakarmavibhāgaśaḥ. Gītā 4.13*
18. *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* 1.4.11-15
19. M. Sundarraj, *Ṛgvedic Studies*, International Society for Investigation of Ancient Civilization, Madras,1994,p.457

✦✦✦

उप वयं प्राणं हवामहे। –अथर्व. 19.58.2
हम प्राण को अपने समीप पुकारते हैं।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्। –अथर्व. 9.10.11
मैंने देख लिया है कि आत्मा अमर है।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो
मर्त्येना सयोनिः। –अथर्व. 9.10.8
मृत व्यक्ति का आत्मा जो कि अमर है भोगेच्छा को लेकर बार–बार मर्त्य शरीर में आता है।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (143-147) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

Book Review

Book - **Vedavyākhyāpaddhatayaḥ;**

Author Dr. Shashi Tiwari; Publisher : Pratibha Prakashan, 7259/23, Ajendra Nagar, Prem Nagar, New Delhi-110007 : Edition : 2014)

Dr. Soma Basu

Associate Professor, School of Vedic Studies,
Rabindra Bharati University, Kolkata

The earliest literary documents of Indian civilization and culture are enshrined in the Vedas. Through the ages, this bulk of literature has been interpereted and commented upon by scholars from individual standpoint. The root of all religion and philosophy is contained in the Vedas, so do all the traditions of Vedic interpretation. Interestingly, the word 'Veda' comprehends in itself the Brāhmaṇas which is clear from the saying-*mantrabrāhmaṇayorvedanāmadheyam iti.* In a sense, the Brāhmaṇa texts attempt at a ritualistic interpretation of the Vedic *mantras;* they are actually responsible for laying the path of Vedic interpretation in the first place; the antiquity of this tradition being not less than 5000 years old. Now, many prominent scholars have come up in recent past with their own methods of interpreting the Vedas, which definitely need a scholarly attention. There is no doubt about the prominence of the Indian tradition of interpretation in the entire domain of literature and philosophy.

The painstaking job of bringing out the history of Vedic interpretation taking into view the age-old tradition as well as modern is meticulously done by Dr. Shashi Tiwari in her monograph entitled *Vedavyākhyāpaddhatayaḥ.* This has been stressed in the prefatory remark by no other than Prof. Radhaballabh Tripathi, Vice-Chancellor, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi. The book written in Sanskrit has 288 page and is divided into 24 chapters.

The book begins with an introduction, which starts with a verse by Manu, which praises Veda as the revealer of the nature of *dharma* and very rightly, Dr. Tiwari has emphasized on the all-comprehensiveness of the Vedas as being the root of all wisdom, thought, philosophy and proper moral conduct. '*Anantā vai vedāḥ*' following this saying an

analysis is given through the pages to facilitate understanding of the readers. The Vedic Aryans deified natural phenomena like the fire or the storm out of fear and undoubtedly belonged to the class of the class of the most highly coultured people on earth. The orthodox tradition regards the Veda as the divine revelation or pure knowledge, which contains the wisdom *par excellence.* and hence its authority is not to be challenged. The Veda is *apauruṣeya* and *nitya.* The sges, who heard or saw it in a state of deep meditation, had revealed it to us. The sages were seers; they did not really compose the Vedic hymns. The Vedas contain the supreme knowledge and the knowledge of the Brahman, the highest spiritual wisdom. According to Dr. Kazanas, the word *brāhmaṇa* means "the mystic power inherent in ritual and prayer, an inner force of the spirit. This very word *brāhmaṇa* becomes, not without good reason, the name of the Absolute in post-Ṛgvedic literature, mainly the Upaniṣads". [Kazanas, Nicholas. "Ṛgvedic all-comprehensiveness" and "Nityatva and Apauruṣeyatva in Language". In *Vedic Studies* (Journal of the School of Vedic Studies). vol. VI, 2014, Silver Jubilee Volume, School of Vedic Studies, Rabindra Bharati University, Kolkata]. He further continues that all divine and mundane phenomena are manifestations of this concept of a Single One. They are the "pristine stock of human knowledge" not composed by any human authority and, hence their interpretation carries so much of importance as Prof. Bhabani Prasad Bhattacharyya expresses. 'The earliest literary records of ancient Indian civilization and culture ar enshrined in the Vedas. From the ancient age down to the modern times this pristine stock of human knwledge has been commented upon by a host of scholars– both traditional and modern.' [Bhattacharyya, Bhabani Prasad. *Schools of Vedic Interpretation: Eastern and Western,* School of Vedic Studies, Rabindra Bharati University, Kolkata, March 2006. p.1].

Vedic texts are most important in many fields of research. They are an essential corpus within studies related to linguistics and for people investigating culture as a part of literature, religion, philosophy and many more. They are of central interest for comparative philologists, theologians and of course for the Indologists. The growth and development of Vedic religion and philosophy is inseparably connected with some of the most prominent schools of Vedic interpretation. Without penetrating deep into the interpretation, it would be impossible to get the essence of Vedic religion and philosophy in its entirety. Before discussing methods of interpretation, the book deals with Vedic literature and its various texts and also with some very important aspects of Vedic vision as *yajña, deva, ṛṣi* and *mantra.* The content of the present book is arranged very skillfully keeping in mind the fundamental in-

formation about Vedic literature. Its division into *Mantra, Brāhmaṇa, Āraṇyaka, Upaniṣad* and *Vedāṅgas* is discussed very lucidly in the first part of Book. Then come chapters on Vedic scarifices, Vedic deities and the seers, varieties of Vedic *mantras.* Various types of *Mantras* and importance of knowing meaning '*vedārtha*' is elaborated separately in ninth and tenth chapters.

In the 11th chapter, a discussion is done about interpretation of Vedic mantras through Vedic references such as *saṁhitīkaraṇa, padapātha, brāhmaṇa,* and *Vedāṅga.* All this gives a pleasant reading. The 12th chapter deals with the Nairukta tradition of interpretation, which, in scholarly opinion, is the oldest in this direction. None can deny the fact that Yāska, the author of the *Nirukta,* was obsessed with etymologies and he has given meaning of few verses on that ground only. The 13th chapter on the Indian tradition of Vedic interpretation is most interesting with the focus being equally on the ancient and modern methods. The Western scholars took great interest in this task of interpreting the Vedas who appear to be somewhat different from their Indian counterparts, and the 14th chapter very rightly discusses the occidental standpoint, which furnishes a modern interpretation.

In the field of Vedic studies, the present book not only gives a wide description of different theories of interpretation, like the ancient Vedic method. Yāska's technique, spritual method, scientific method, allegorical (*pratītmaka*) method, historical and comparative methods, western methods etc., but present a lucid and brief history of Vedic studies and interpretation done by westerners and also by Indians as a whole to focus relevance and antiquity of the subject. No single commentary is able to lead the reader to the treasure house of the Vedic knowledge. Neither is it possible to penetrate deep into the rich Vedic truth or knowledge without a commentary. While interpreting the Vedas and in the process of arriving at the core of the Vedic knowledge it is necessary to consider each aspect provided by different interpreters so that a holistic view can be framed and this is exactly what has been done very methodically in the 15th chapter by the learned author. In fact, for doing so she has quoted many authorities and opinions of commentators and interpreters including Sri Aurobindo and others. While explaining the hidden meaning of the Veda (*niṇya vacamsi*-RV 4.3.16b) she depended on Sri Aurobindo who put great emphasis on purification of soul and awakening of knowledge that play a crucial role in interpretation of the Vedic *mantras.* Vedic stanzas bear varied significance and a proper understanding of these decisive expressions is indispensible. The Vedic truths disguise themselves in the apparently external meaning and once the deeper truth is revealed, a floodgate of

ultimate knowledge bursts forth elevating the man from lower realities to higher ones.

Dr. Shashi Tiwari is a renowned teacher and scholar-researcher in the area of the Veda. She has kept herself busy with teaching and researching for more than four decades and has a considerable number of publications to her credit. The present book, a fruit of her deep scholarship, is a big volume with 24 chapters most of which are divided into sections and subsections. For every opinion there are supporting evidence given from the original texts at the end of each chapter in the footnotes (*sandarbhasaṁketa*).

From 16th to 24th Chapters, the book deals with various commentator of Vedic texts ancient, as well as modern, Indian as well as foreigners. The idea of discussing the commentators starting from Skandaswāmi, Narāyaṇa, Udgītha, Mādhavabhatta. Veṅka-amādhava, Āandatīrtha, Ātmānanda. Mudgala and others in sixteenth chapter is quite interesting. All of them have tried to comprehend the import of the Vedas in their unique way. The learned author has devoted entire seventeenth chapter on Sāyaṇa who undoubtedly occupies the most dignified position among the Vedic commentators by upholding different traditions like the Vedāntic, mythological, and etymological, besides following mainly the ritualistic tradition. The major part of Sāyaṇa's commentary was done following the ritualistic point of view. All the *mantras* have not only the ceremonial uses but also of ceremonial origin. Sāyaṇa's life and method of interpretation are explained here in a original way.

In the 18th chapter, the author has divided other ancient commentators as belonging to the Vedic Saṁhitās and Brāhmaṇas such as Uva-a. Mahīdhara, Halāudha, Mādhava, Bharataswāmī etc. They belonged to the ancient tradition for the benefit of paying suitable tribute to Vedic studies. This is obviously very common when the author tells us about the nine recensions of the Atharvaveda none of which is available barring two, namely Saunaka and Paippalāda, and nothing can be said about their date etc. and also the incomplete commentary by Sāyaṇa.

The 19th chapter is all about the Western commentators whose works have been discussed elaborately. Friedrich Rosen was one of the early European scholars to take up Vedic studies who published his first work on the Ṛgveda, *Ṛgvedae Speciment* that contained the text of the first seven hymns of the Ṛgveda (1.1-7) with Latin translation and notes in 1830. This happened much earlier than Maxmuller's *magnum opus,* the Ṛgveda with Sāyaṇa's commentary, the first volume of which

was published in 1849. Rosen could not complete his project due to his sudden death in 1837. (from "Dr. Friedrich Rosen : His life and Contribution to Vedic Studies" by Prof. Satkari Mukhopadhyay in *Vedic Studies* (Journal of the School of Vedic Studies). vol. VI, 2014, Silver Jubilee Volume, School of Vedic Studies, Rabindra Bharati University, Kolkata). In this section, besides him not less than 13 Ṛgvedic commentators have been described with every detail and the other sections deal with commentators of the Yajurveda, Samāveda and Atharvaveda.

Next four chapters 20th to 23rd are dedicated for discussing individually great Indian commentators of yesteryear of who the life and works of Dayānanda Sarasvatī come first. All the aspects of his pious life, his devotion and long struggle for the cause of the Vedic studies, his commentary and its characteristic features are found described in a very lucid way. Then the life sketch of Shri Aurobindo, the profound spritual interpreter of the Veda, the great author and the perfect yogi is drawn in a very befitting manner. Next is mentioned the life and works of the great scholar Śripād Dāmodar Sātvalekar in detail. Ramarkable features of the modern commentators provided by the author have greatly enhanced the usefulness of the present work. It is really very satisfying and rewarding at the same time to know about such modern commentators like Kapāli Shāstri, Swāmī Vidyānanda Videha. Harisharaṇa Siddhāntālaṁkāra and Swāmī Karapātra Mahāraja coming from the pen of Dr. Shashi Tiwari, the most talented and distinguished teacher and a genuine scholar of the Vedas of today.

The main importance of the book lies in its simple but effortless method of describing facts from the lives and works of ancient and modern commentators. Alongside it brings out a holistic appreciation and critical analysis of the Vedic literature with proper and appropriate volume of information. The notes are very detailed and book contains a long and useful bibliography, which forms the concluding part of the book.

Dr. Tiwari is to be admired for her valuable pedagogic contribution and her vision to Vedic Interpretation.The book is written in simple language, which shows the author's mastery over Sanskrit language. It is to be remembered that it will not be accessible for all for its language. For those readers who are not acquainted with Sanskrit language and the Devanagari script, I greatly trust that a translation into English may fast come up. A large number of scholars from other faculty, I hope, will certainly entertain the English translation.

I shall conclude this brief review with hearfelt admiration and respect to the author.

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 6 (148-166) Jan - June 2016 ISSN 2277-4351

Computer Ergonomics and Yoga

Suyash Bhardwaj
Gurukul Kangri University, Haridwar

Abstract

Fast paced life and bad habits are increasing health problem in the working group people. Long term exposure to computer and laptops led to strain in neck and hands, less movement and extended sitting is inevitably causing slip disc, cervical problems. These problems can obstruct the overall efficiency and can also disturb the life style. This paper presents some exercises for complete health care with few changes in the work environment to completely get rid of major health related issues generated by long term computer usage.

Key words: ergonomics, yoga, health

1. Introduction

Computers are bringing the world closer, yet spreading apart the people living in it. This is a contradictory statement, but it s true. The life style before and after the advances of technology has changed drastically and made us more and more dependent on the gadgets including computers, laptops, smart phones etc.

Excessive use of computer while sitting in an office chair or while working on a laptop at home gives us neck and back pain, this pain when ignored becomes the cause for more severe health problems like cervical spondylitis or slip disc etc.

This paper discusses about the after effect of prolonged usage of desktop computers or laptops and present few yogic practices which can be undertaken into consideration along with the minor improvement for our sitting postures in our daily routine.

2. Computer Ergonomics

Ergonomics is the science of designing a workplace to fit the worker. It is the process of designing or arranging workplaces, products and systems so that they fit to people who use them. It aims to improve workspaces and environment to minimise the risk of injury or harm.

Computer ergonomics addresses ways to optimize your computer workstation to reduce the specific risks of computer vision, neck and back pain, carpal tunnel syndrome and other disorders affecting the muscles, spine and joints. [1]

Many people spend numerous hours in front of computers without worrying about the impact on their bodies. Their bodies suffered physical stress and strain and thus may lead to several major problems in future like "cumulative Trauma Disorder" or "Repetitive Stress injuries". Several instant symptoms may include Loss of sensation, Muscle Fatigue and Reduced Performance.

Computer Ergonomics is a field of study that attempts to reduce fatigue, muscle pain and other injuries by improving the workspace and posture of body while sitting in front of computer or Laptop.[1]

On the other hand yogic life style also pays attention towards the right postures of sitting and standing, to reduce the muscle fatigue and stress injuries. Several yogic practices can be performed in the daily routine for healthy living and long term ailments free life.

3. Benefits of Yoga for Computer Users

Yoga is a form of exercise, physically, mentally and spiritually that can help to alleviate any chronic pain felt by anyone who spends too much time on the computer. Not only can yoga help decrease chronic pain your body accumulates from all the hours spent on the computer, it can also help to increase circulation, relieve strain, eye fatigue and even headaches.

Writers who spend hours thinking and typing on the computer can use the relaxation and meditation exercises from yoga while their bodies will definitely appreciate the rest and the reduction of tension in the muscles. An hour of yoga each day, or even 3-4 hours a week is enough to help relieve computer usage generated pain and discomfort. [2]

Visweswaraiah et. al. (2004) concluded in his study that yoga is an ancient Indian science which includes the practice of specific postures, cleansing practices, regulated breathing, and meditation [3].

Telles et. al. (2006) did a controlled trial to evaluate the effect of a combination of yoga practices on self-rated symptoms of visual discomfort in professional computer users in India. At the end of sixty days of yoga practice there was a significant decrease in self-rated visual discomfort, while the non-yoga control group showed an increase. [4].

In another study by Telles et al. (2006), it is stated that Computer programmers experience a greater subjective perception of stress than regular office workers. Stress is related to high work load, high 2 work pressure, diminished job control and stress related to the use of new technology. The practice of yoga has been shown to reduce psycho-physiological indicators of mental stress in persons with high baseline stress levels associated with a physical disability, their social circumstances or their occupation.[5]

There are several ways we can achieve complete health oriented work environment using computer ergonomics and yoga. But first we should know about the health issues generated by the prolonged usage of computers.

4. Health Issues in using computer for long periods

There can be many complications in the body of the worker after prolonged computer usage, whether it is a desktop or a laptop both types of systems involve sitting for long period with bend neck and improperly supported spine.

The computer is a dynamic tool in many different jobs and activities, for adults and children. But elongated use of computer can increase your chance of developing an injury. Inappropriate computer use can cause muscle and joint pain, overuse injuries of the shoulder, arm, wrist or hand, and eyestrain.

Children can experience particular physical and psychological problems if they play computer games too much. You can reduce or avoid these risks with the correct furniture, better posture and good habits, such as taking rest breaks and restricting time spent playing computer games.

It is matter of fact that a little exploration of this research has been done on the effects of prolonged usage of computer in computer users like technical company workers or school going children who play computer games for long hours. In a study Lai et. al. (2000) steered a study of the responsiveness about the health risks followed by prolonged computer use among administrators, principals and teachers in primary and secondary schools in New Zealand. Most of the respondents were aware of possible health risks, but the study underlined the lack of execution for any preventive strategies to avoid the identified risks. [6]

In an another study about health issues associated with computer use for school staff was conducted by Sotoyama et al. (2002) that

includes a questionnaire survey of the use of computers in schools in Yokohama and Kawasaki cities. They reported that less than 10% of schools were ĕactively incorporating ergonomics information into the computer education of the pupils. Another conclusion from this study was that Adults generally work alone at a computer, but school children like to work in pairs. [7]

S. Dockrell et al. (2007) studied the pattern of usage of computer in rural vs. urban schools, mixed vs. single sex schools, and found some interesting facts like, 70% of the children spent on average 20 min or less at the computer daily. School children were not as likely to work alone at the computer as they were to work with one or more other children. This study found that 56.3% of children worked in pairs. Another finding was the improper or insufficient knowledge of ergonomics of the work environment. It is also suggested that any programmes developed for teachers should include advice and guidance about computing posture, arrangement of the environment and good work practices. [8]

Another interesting finding about children working in pairs is shown by Breen et al. (2007), that the children who work in pairs are intended to be less static, that is, they varied their posture more frequently. They found that children who worked in pairs moved their upper limbs to point things out on the screen to their partners and adjusted their trunk position more frequently.[9]

4.1 Posture-related injuries from computer use

Back and neck pain, headaches, and shoulder and arm pain are common computer-related injuries. Such muscle and joint problems can be caused or made worse by poor workstation design, bad posture and sitting for long periods of time.

Although sitting requires less muscular effort than standing, it still causes physical fatigue (tiredness) and you need to hold parts of your body steady for long periods of time. This reduces circulation of blood to your muscles, bones, tendons and ligaments, sometimes leading to stiffness and pain. If a workstation is not set up properly, these steady positions can put even greater stress on your muscles and joints [10, 11].

4.1.1 Preventing computer-related muscle and joint injuries

Tips to avoid muscle and joint problems include:

- Sit at an adjustable desk specially designed for use with computers.

- Have the computer monitor (screen) either at eye level or slightly lower.
- Have your keyboard at a height that lets your elbows rest comfortably at your sides. Your forearms should be roughly parallel with the floor and level with the keyboard.
- Adjust your chair so that your feet rest flat on the floor, or use a footstool.
- Use an ergonomic chair, specially designed to help your spine hold its natural curve while sitting.
- Use an ergonomic keyboard so that your hands and wrists are in a more natural position.
- Take frequent short breaks and go for a walk, or do stretching exercises at your desk. Stand often.

4.2 Computer-related overuse injuries of the hand or arm

Muscles and tendons can become painful with repetitive movements and awkward postures. This is known as ĕoveruse injury and typically occurs in the elbow, wrist or hand of computer users. Symptoms of these overuse injuries include pain, swelling, stiffness of the joints, weakness and numbness [10, 11].

4.2.1 Preventing computer-related overuse injuries

Tips to avoid overuse injuries of the hand or arm include:

- Have your mouse at the same height as your correctly positioned keyboard.
- Position the mouse as close as possible to the side of the keyboard.
- Use your whole arm, not just your wrist, when using the mouse.
- Type lightly and gently.
- Mix your tasks to avoid long, uninterrupted stretches of using the computer.
- Remove your hands from the keyboard when not actively typing, to let your arms relax.

4.3 Eyestrain from computer use

Fixing your eyes at some point for long duration of time can cause fatigue. The human eye structurally prefers to look at objects more than six metres away, so any work performed close up puts extra demands on your eye muscles that lead to eye muscles soreness and fatigue.

The illuminated computer screen can also cause irritation in the eye. Although there is no evidence that eye fatigue damages your eyesight, but computer users may get symptoms such as pain in the eyes, blurred vision, temporary inability to focus on faraway objects and headaches [10, 11].

4.3.1 Preventing eyestrain from computer use

Tips to avoid eyestrain include:

- Make sure your main source of light (such as a window) is not shining into your face or directly onto the computer screen.
- Tilt the screen slightly to avoid reflections or glare.
- Make sure the screen is not too close to your face.
- Put the screen either at eye level or slightly lower.
- Reduce the contrast and brightness of your screen by adjusting the controls.
- Frequently look away from the screen and focus on faraway objects.
- Have regular eye examinations to check that any blurring, headaches and other associated

  problems are not caused by any underlying disorders.

4.4 Injuries from laptop computers

The growing use of laptop computers has caused more pains, strains and injuries among computer users.

Laptop computers were designed to be used for short periods of time when a person couldnt access a desktop computer. But these days many people use a laptop all the time.

The problem is that the monitor and keyboard of a laptop are very close together. To position the monitor at the right height for your back and neck causes you to lift your arms and shoulders too high. But to position the keyboard at the best height for your arms and shoulders, you must hunch your shoulders and neck to see the monitor. Carrying your laptop around can also strain your muscles and joints [10, 11].

4.4.1 Preventing injury from laptop computers

Tips to reduce laptop dangers include:

- Use a correctly set-up desktop computer instead of a laptop as often as you can.

- Use peripheral equipment, such as a docking station, separate keyboard, mouse and laptop stand.
- Take frequent breaks.
- Carry your laptop in a backpack or in wheel-along luggage.

4.5 Children and computer-related injuries

Researchers believe that electronic games may be among the causes of childhood obesity and like adults, children might also get overuse injuries of the hand, and muscle and joint problems such as back and neck pain or headaches.

Some research has shown that playing violent computer games and a large amount of game time may cause aggressive behaviour in some children and may negatively affect a child s development. Although computer and video games are fun and offer benefits such as improved spatial awareness, parents should keep in mind that moderation is important in avoiding health problems [10, 11].

4.5.1 Health risks from computer games

Playing computer games for too long or without correct furniture and posture can lead to health problems such as:

- Overuse injuries of the hand
- Obesity
- Muscle and joint problems
- Eyestrain
- Behavioural problems including aggressive behaviour
- Photosensitive epileptic seizures

Parents can reduce the risk of children developing computer-related health problems by encouraging them to:

- Sit at least one metre away from the screen
- Take frequent breaks
- Pursue other activities particularly sports and physical activities.

You can also:

- Set sensible time limits on your child s game playing. Some guidelines recommend no more than two hours of screen time each day
- Set up the computer, desk, chair and keyboard to suit your child s height. For example, adjust the chair so that your child s feet rest flat on the floor

- Buy an ergonomic chair
- Buy a smaller mouse, which suits the size of your child s hand
- Teach your child to use the keyboard and mouse properly and safely, such as pushing the buttons and other controls gently. Using unnecessary force increases the risk of overuse injury. [10, 11]

5. Ergonomical tips for workstations

Here are some of the top computer ergonomics tips recommended by the U.S. Department of Labor's Occupational Safety & Health Administration (OSHA). These tips are designed to reduce the risk of stress, physical injury and computer eye strain from prolonged computer use.

1. Sit so your head and neck are upright and in-line with your torso, not bent down or tilted back.
2. Face your computer screen directly. Avoid viewing your screen with your head turned or you re back twisted.
3. Keep your elbows comfortably close to your body.
4. Use a chair that provides support for your lower back and has a cushioned seat with a contoured front edge.
5. Keep your mouse close to your keyboard so you don't have to reach for it.
6. Position your computer display so the top of the screen is at or slightly below eye level. This will allow you to view the screen without bending your neck.
7. Adjust the position of your display to prevent reflections of overhead and outdoor lighting appearing on your screen.
8. Put your monitor close enough to your eyes so you can comfortably read text on the screen without leaning forward.
9. When working with print documents, use a document holder that positions them at the same height and distance as your computer screen.
10. Use a hands-free headset when talking on the phone while working at your computer.

Also, adjust the height of your chair and desk so that:

1. Your upper arms are perpendicular to the floor, not stretched forward or angled backward
2. Your forearms, wrists and hands form a 90-degree angle with your upper arms

3. Your thighs are parallel to the floor and your lower legs are perpendicular to the floor

4. Your wrists and palms are not resting on sharp edges

Here are some right s and wrong s while sitting in chair, in figure 1, the person is sitting in sofa chair without back support and legs are also not vertically against floor that can cause back pain and numbness in legs. The next part of the figure shows the correct method to sit in a sofa chair, while sitting upright with back support and legs in vertically upward position will relieve the stress build up in legs and back. [12]

Fig. 1 : wrong and right way to sit in sofa chair

Children often play games without caring for the sitting posture, that eventually led to fatigue and muscle injury of hand and knee joints, in Figure 2 a child is sitting in a chair with low hieght and is getting a sprain in elbows and numbness in legs, the correct posture is to sit on a cushion and legs should be rested on some stool. [12]

Fig. 2 : wrong and right way to sit in low chair

While working on a laptop, a person does not care about the incorrect posture like in this figure 3, the man sitting in the wrong chair is indeed getting back pain, elbow and leg injury. After choosing a right type of chair, he shall be sitting with straight back and laptop is also at the eye level to reduce eye strain. [12]

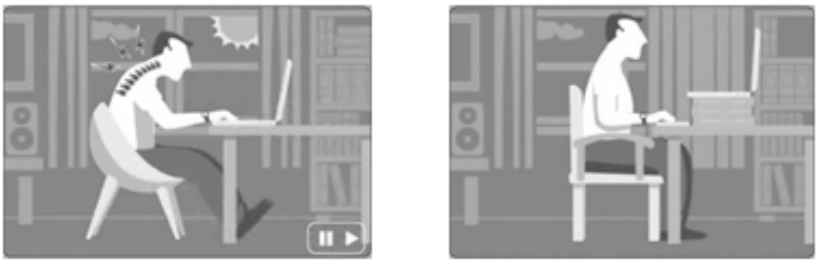

Fig. 3: choosing the right type of chair for working on a laptop

6. Yogic exercise for computer users

Yoga is not merely doing exercise, but it is way of life that encourages the balance between work and body. If a person work for long without rest he will get tired, like rest is important in between work similarly yogic treatment is also very important during daily routine. Following few simple routine exercises one can live healthy and work efficiently.

6.1 Neck and Shoulders

Here are some exercises for neck and shoulders which any person can do while sitting in an office chair or while standing in any workplace. [1, 13, 14]

6.1.1Neck Rotation: Slowly rotate your head as far as comfortable to the right, then left. Next exercise is to rotate your neck clockwise and then anticlockwise.

Fig. 4 Neck Rotation

6.1.2 Head Side to Side: Bend your neck so left ear approaches left shoulder, then repeat for right. Add a little resistance by pressing your hand against the side of your head.

Fig. 5 Head Side to Side Movement

6.1.3 Shoulder Rotation: Circle your shoulders, and then reverse directions. Touch your Shoulders with your Fingers making the posture as shown in figure. Now rotate your arms from the shoulder joint as in both clockwise and anticlockwise direction as shown in figure

Fig. 6 Shoulder Rotation

6.1.4 Chin Tuck: Slide your chin inward, without bending your neck up or down. This is easiest to practice initially against a wall. Tuck chin in, attempting to touch back of neck to the wall while also maintaining head contact. Don't jam your chin down to your chest.

Fig. 7 Chin Tuck

6.1.5 Shoulder Blade Retraction: Pull your shoulders down and back.

Shrug: Slowly raise your shoulders toward ears and hold for a few seconds. Gradually bring shoulders down and relax.

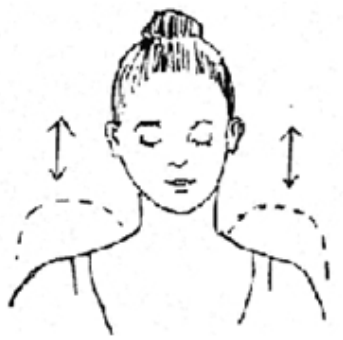

Fig. 8 Shoulder Blade Retraction

6.2 Back Exercises

Here are some exercises for back which any person can do while sitting in an office chair or while standing in any workplace. [1, 13, 14]

6.2.1 Shoulder Squeeze: Relax your arms in both sides of body, stretch shoulder backwards, squeezing shoulder blades together while breathing in and filling lungs with air to maximum capacity. Hold for a few seconds then release.

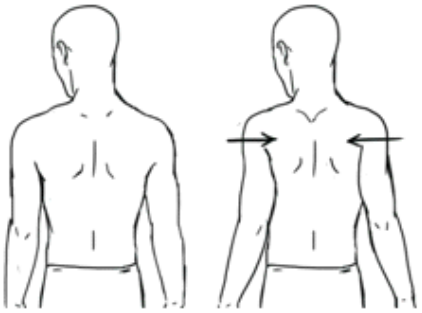

Fig. 9 Shoulder Squeeze

6.2.2 Stretching Up: Sit up straight and imagine a cable attached to the top of your head. Gradually stretch to be as tall as possible, hold for a few seconds, next step is to stretch up arms to the maximum in upward position, palms facing each other. Now bend forward exhaling and touch ground with fingers, next step is to gradually raise 6

your arms stretched towards sky leaning forward making an angle of 450 degree with your thighs. Now pull back your arms and place palms on your shoulder pushing them backwards, relax and return to sitting straight position. Repeat a few times and your shoulder, neck and arms will be relieved from stress.

Fig. 10 Stretching Up

6.3 Arms exercise

Here are some exercises for arms which any person can do while sitting in an office chair or while standing in any workplace. [1, 13, 14]

6.3.1 Arm Relaxation: Drop your arms and hands to your sides. Gently shake them for a few seconds.

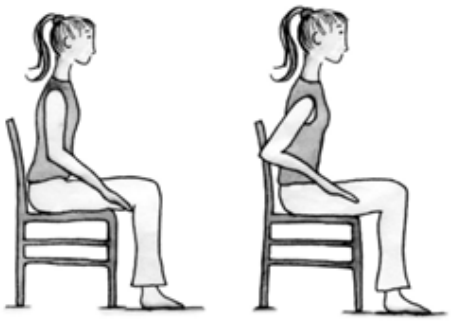

Fig. 11 Arm Relaxation

6.3.2 Arm Rotation: Raise your arms sideways of your body. Rotate arms you re your shoulder joints with palms wide open, in clock wise and in anti-clock wise direction.

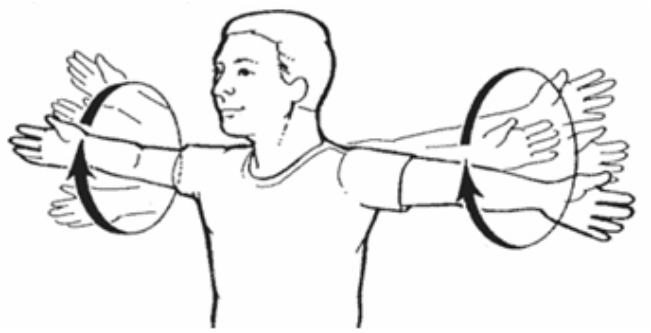

Fig. 12 Arm Rotation

6.4 Hands and Wrists exercise

Here are some exercises for hands and wrists which any person can do while sitting in an office chair or while standing in any workplace. [1, 13, 14]

6.4.1 Wrist Rotation: Clinch your fist as shown in figure and then rotate your wrist around your arm in both clockwise and anticlockwise direction

Fig 13 Wrist Rotation

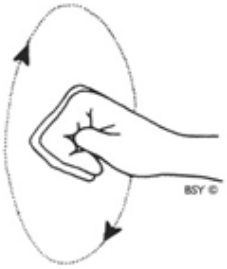

6.4.2 Wrist Flex: With your elbows on desk, gently use left hand to bend right hand back toward forearm. Hold for a few seconds, then relax. Repeat on other side.

Fig. 14 Wrist Flex

6.4.3 **Finger Fan:** Spread your fingers as far apart as possible, pull fingers together, fully straighten fingers, then clench fists, then release.

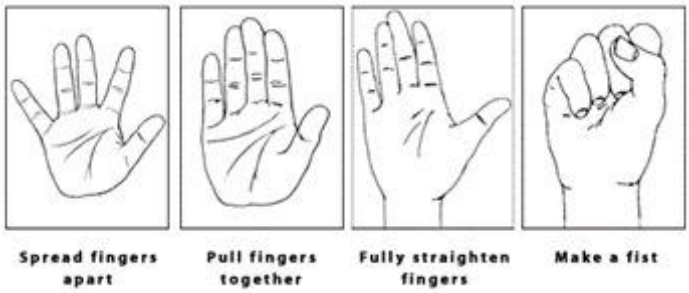

Fig. 15 Finger Fan

6.5 Feet exercise

Here are some exercises for feet which any person can do while sitting in an office chair or while standing in any workplace. [1, 13, 14]

6.5.1 Toe Curl: Flex toes up, then curl toes under then release.

Fig. 16 Toe Curl

6.5.2 Foot Rotation: Circle foot slowly from the ankle, then reverse. 7

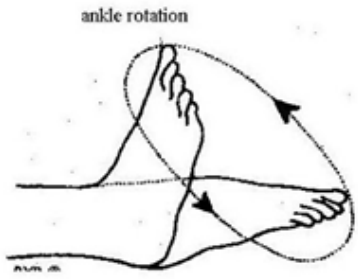

Fig. 17 Foot Rotation

6.6 Eyes

Exercises for eyes can be done in various ways. Here are step by step exercises that can be done to reduce stress of eyes. [1, 13, 14]

6.6.1 Eye Exercises: Move your eyes by looking towards extreme left without moving neck, then look right, look up and down, rotate eyes clockwise then counter clockwise slowly, close eyes with force and open wide, look diagonally from left corner down to right upper corner and vice versa, try to focus on tip of nose.

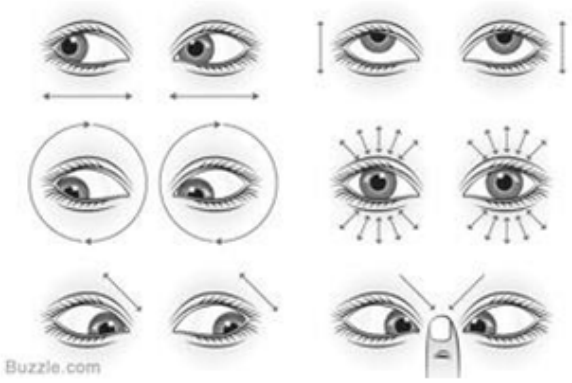

Fig. 18 Eye Exercises

6.6.2 Palm Eyes: Without touching your eyes, cup hands lightly over eyes for 30 seconds to rest them from light.

Fig. 19 Palming

6.6.3 Look Away: Exercise your eyes by periodically looking away from your computer to focus on distant objects.

6.6.4. Focus Shifting

Fig. 20 : Focus Shifting

Relax your body and breathe comfortably. Hold one arm straight out in front of you in a loose fist, with the thumb pointing up. Focus on your thumb. While keeping your eyes trained on it, slowly move the thumb toward your nose until you can no longer focus clearly on it. Pause for a breath or two, and then lengthen the arm back to its original outstretched position, while maintaining focus on the thumb. Repeat up to 10 times. [15]

6.6.5. Distance Gazing

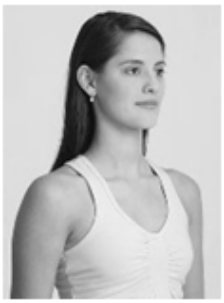

Fig. 21 : Distance Gazing

Rest your gaze on a distant object (if you re indoors, look out a window, if you can). Focus on the object as clearly as possible, while staying relaxed in the eyes and face. Take a deep breath, and then slowly shift your gaze to another distant object around you. Imagine your eyes are gently "drinking in" the image you see. Continue letting your eyes drift about the world around you, momentarily pausing at objects at varying distances away from you. As an extra bonus, if you spy something particularly pleasing, smile, enjoy the vision, and give thanks for your strong, healthy eyes. [15]

7. Conclusion

Prolonged working on computer can cause severe injury to muscles and bones of neck, shoulders and can cause permanent dislocation of disc, stiff neck, shoulder pain, headaches, tennis elbow, cervical spondylitis etc. overuse of computer keyboard and mouse or any other devices like mobile phones and tablet pc s can cause eyestrain and overuse injuries of the arms and hands.

We can avoid computer-related injuries with proper ergonomically designed furniture, better posture and good working habits. All kind of ergonomically designed support equipment s are available in the market, anyone can buy it and install it in their workplaces for improving work efficiency as well as for health benefits.

In this paper we presented few selected yogic exercises for computer users, only yoga or only ergonomically designed furniture

will not help the users to get rid of the health problems they are facing, that is why this paper focuses on the combination of both the techniques, by merging science and technology with ancient system of healthy living i.e. yoga.

Yoga is a complete science, it is self-sufficient to provide complete health care and treatment but due to the busy schedules and less time for self-care, 8

people are lacking behind in this rat race. The common problem is prolonged sitting in the computer chair where there is no way to do exercise or full body movement. Here this paper, presents the few light movements and exercises that any person can do while sitting in the chair or by standing and bending with in the work place.

Physical fitness which comes through yoga can help you avoid and treat problems related to computer use. Build your stamina with exercises for strength, flexibility, and cardiovascular health.

This paper has wide scope of application and is not limited to only science and technology fields but can be helpful to each and every person who works in a job profile.

8. References

[1]. https://www.uhs.umich.edu/computerergonomics

[2]. http://www.lexiyoga.com/yoga-for-computer-users

[3] Visweswaraiah NK, Telles S: Randomized trial of yoga as a complementary therapy for pulmonary tuberculosis. Respirology, 2004, 9: 96–101

[4] Telles S, Dash M, Manjunath NK et al: Effect of yoga on visual perception and visual strain. J Mod Optics, 2006; in press.

[5] Effect of yoga on somatic indicators of distress in professional computer users, Shirley Telles and Naveen K.V., Ruta Ustinaviciene, Vidmantas Januskevicius, Med Sci Monit, 2006; 12(7): CR296–301

[6] LAI, K., 2000, Health risks with computer use in New Zealand schools. International Conference on Computers in Education/ International Conference on Computer-assisted Instruction (Taipei, Taiwan). Available online at: http://education.umn.edu/kls/ecee/pdfs/otagoresearch.pdf (accessed 10 September 2007).

[7] An Ergonomic Questionnaire Survey on the Use of Computers in Schools, Sotoyama, m., bergqvist, u., jonai, h. And saito, s., 2002,. Industrial health, 40, 135–141

[8] Children's use of Computers And Teachers' Education in Computer Ergonomics, S. Dockrell , E. Fallon, M. Kelly , B. Masterson & N. Shields (2007) School, Ergonomics, 50:10, 1657-1667, DOI: 10.1080/ 00140130701585438, ISSN 0014-0139 print/ ISSN 1366-5847

[9] An Investigation Of Children s Posture And Discomfort During Computer Use, Breen, R., Pyper, S., Rusk, Y. And Dockrell, S., 2007, Ergonomics, 50, 1582–1592

[10]. https://www.betterhealth.vic.gov.au/health/healthyliving/computer-related-injuries

[11] http://www.advancechiro.on.ca/common-computer-related-injuries/

[12] Computer ergonomics video by Vodafone

[13] USC Ergonomic Exercises for Computer Users and Office Workers

[14] http://www.worksafe.vic.gov.au/__data/assets/pdf_file/0016/3634/Officewise_web.pdf

[15] https://yogainternational.com/article/view/4-yoga-exercises-for-eye-strain.

✦✦✦

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो
मर्त्येना सयोनिः। –अथर्व. 9.10.16
आत्मा जो कि अमर है भोगेच्छा से पकड़ा हुआ
ऊँची–नीची योनियों में जन्म लेता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। –अथर्व. 10.8.27
हे आत्मन्! तू जन्म–जन्म में स्त्री बनता है, पुरुष बनता है, कुमार बनता है, कुमारी बनता है।

अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन निषेवते।
–अथर्व. 11.8.33
कुछ कर्म ऐसे हैं जिनसे आत्मा मोक्ष में जाता है, कुछ कर्मों से पापयोनि में, कुछ से इस मनुष्यलोक में।

Information of Research Conducted on Vedic Subjects of following Universities/Institutions in India.

1. Faculty of oriental studies, Gurukul Kangari Vishwavidyalaya, Haridwar (U.K.)

S.No.	Name of Research Scholar	Name of Supervisor	Tital of the Thesis	Year
1.	श्री राम चैतन्य	डॉ. रामनाथ वेदालंकार	ऋग्वेद में उपसर्ग	1974
2.	श्री रमेशदत्त शर्मा	डॉ. अभेदानन्द भट्टाचार्य	आचार्य रामानुज तथा महर्षि दयानन्द की दार्शनिक मान्याताओं का तुलनात्मक अध्ययन	1975
3.	सुदर्शन देव	डॉ. रामनाथ वेदालंकार	शिक्षा-वेदांग का अध्ययन	1975
4.	श्री भारतभूषण विद्यालंकार	डॉ. निगम शर्मा	आथर्वणिक राजनीति	1976
5.	श्री सत्यव्रत राजेश	डॉ. वाचस्पति उपाध्याय	महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप	1977
6.	नीराजना शर्मा	डॉ. निरूपण विद्यालंकार और पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड	वैदिक सोम का समीक्षात्मक अध्ययन	1977
7.	श्री रणवीर	डॉ. वाचस्पति उपाध्याय	याज्ञवल्क्य स्मृति के दाय भाग का आलोचनात्मक अध्ययन	1979
8.	श्री विश्वपाल वेदालंकार	पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड	वेदों में आयी हुयी संख्याओं पर अनुसंधान	1980
9.	श्री दिलीप वेदालंकार	तदेव	वेदों में मानववाद	1980
10.	श्री योगेन्द्र पुरुषार्थी	पं. राम प्रसाद वेदालंकार	वैदिक संहिताओं में योग तत्व	1980
11.	श्री सत्य प्रकार रामवहल	तदेव	महर्षि दयानन्द की बृहत्त्रयी : एक समालोचनात्मक अध्ययन	1984
12.	श्री मनुदेव	तदेव	बृहदारण्यकोपनिषद्: एक अध्ययन	1985
13.	श्री भगत सिंह	डॉ. भारतभूषण विद्यालंकार	नारद, बृहस्पति और कात्यायन स्मृतियों का तुलनात्मक अध्ययन	1985

14.	श्री रामेश्वर दयाल गुप्त	डॉ. भारत भूषण	जीवात्मा के वेद प्रतिपादित स्वरूप की विवेचना	1986
15.	सुषमा स्नातिका	डॉ. निगम शर्मा	बृहत्त्रयी और लघुत्रयी पर वैदिक प्रभाव	1986
16.	श्री केशव प्रसाद उपाध्याय	डॉ. राम प्रकाश शर्मा	महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य के प्रथम दस अध्यायों का व्याकरण की दृष्टि से समालोचनात्मक अध्ययन	1986
17.	श्री दयानन्द शर्मा	डॉ. जयदेव वेदालंकार	सांख्य शास्त्र और चरक संहिता : एक दार्शनिक तुलनात्मक अध्ययन	1986
18.	श्री नामदेव दुधारे	डॉ. जयदेव वेदालंकार	शंकराचार्य, मध्वाचार्य तथा दयानन्द का तुलनात्मक दार्शनिक परिशीलन	1986
19.	श्री सुरेन्द्र कुमार	आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार	ऋग्वेद में प्रतिपादित विभिन्न विद्याओं का संकलन एवं विवेचनात्मक अध्ययन	1987
20.	श्री कामजित	डॉ. सत्यव्रत राजेश	महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में इन्द्र देवता का अध्ययन	1987
21.	सुमेधा	डॉ. सत्यव्रत राजेश	महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में अग्नि देवता का अध्ययन	1987
22.	श्री गजानन्द आर्य	प्रो. मनुदेव	अथर्ववेद में दार्शनिक तत्व	1995
23.	श्री विनोद जोशी	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	अथर्ववेद में उपलब्ध निर्वचनों का समीक्षात्मक अध्ययन	1998
24.	कु. पोमिला	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार के वैदिक ग्रन्थों का मूल्यांकन	1999
25.	श्री हीरा सिंह	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	जैमिनियोपनिषद् ब्राह्मण समीक्षात्मक विवेचना	1999
26.	श्री सुनील दत्त चतुआ	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	महर्षि दयानन्द की विचारधारा मारिशस में उनका प्रभाव	2000

27.	श्री जसवन्त राय	प्रो. मनुदेव वन्धु	उपनिषदों में त्रैत दर्शन: एकादश उपनिषदों के सन्दर्भ में त्रैतवाद की समीक्षा	2001
28.	नवनीता शर्मा	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	शुक्ल यजुर्वेद में प्राप्त निर्वचन एक समीक्षात्मक अध्ययन	2001
29.	श्री राधाकृष्ण	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती के वेदविषयक कार्य का मूल्यांकन	2001
30.	श्री सुभाष चन्द जसूजा	प्रो. मनुदेव वन्धु	शुक्लयजुर्वेदे दार्शनिकतत्वानि	2002
31.	श्री शिवप्रसाद शर्मा	प्रो. मनुदेव वन्धु	वैदिक संहिताओं में यम देवता : एक अध्ययन	2002
32.	श्रीमती छाया भट्टाचार्य	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	Philosophical Aspects of Upnishads and later Development in the Bhagavadgeeta	2002
33.	श्री सूर्यदेव	प्रो. मनुदेव वन्धु	आरण्यकोपनिषत्सु शिक्षासम्बन्धितत्वानि	2003
34.	प्रदीप कुमार	डॉ. भारतभूषण	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कृत वेदभाष्यों का समीक्षात्मक अध्ययन	2004
35.	श्री आनन्द कत्याल	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	स्वा. विद्यानन्दकृत वेदमीमांसाया: समीक्षात्मकम् अध्ययनम्	2005
36.	मीना कुमारी	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	वैदिक ऋषि का नाम विवेचनात्मक-अध्ययनम्	2005
37.	कृष्णा कुमारी	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	ऋग्वेद में उपलब्ध निर्वचनों के सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थीय एवं यास्कीय निर्वचनों का पर्यालोचन	2006
38.	श्री देवकीनन्दन शर्मा	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार और उसका वैदिकत्व	2007
39.	श्री कर्मवीर	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	वैदिक साहित्य में मनस्तत्व एक समीक्षात्मक अध्ययन	2007
40.	आशारानी सती	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	वेदों में शब्दालंकार	2007
41.	श्री अमित कुमार पाण्डेय	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	अथर्ववेद में अलंकार योजना	2007

42.	श्री चन्द्रमणी	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	उपनिषद् साहित्य में शिक्षा व्यवस्था	2007
43.	श्री नरेश कुमार	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	महर्षि दयानन्दकृत ग्रन्थों में मानव विकास के स्त्रोत	2007
44.	मनीषा त्रिपाठी	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	उपनिषदों में अलंकार योजना	2007
45.	शालिनी त्रिपाठी	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	अथर्ववेदीय दृष्टि से यज्ञ का महत्त्व	2007
46.	सारिका सैनी	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	वैदिक परिप्रेक्ष्य में श्रीमद्भगवद्गीता का समीक्षात्मक अध्ययन	2008
47.	श्री गंगाप्रसाद जोशी	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	प्रमुख पुराणों में वर्णित संस्कार एवं ज्योतिषीय तत्त्व	2008
48.	श्री राजेन्द्र प्रसाद रेग्मी	डॉ. मनुदेव बन्धु	ब्रह्माण्डपुराण में सिद्धान्त एवं गणित ज्योतिष सम्बन्धी तत्व	2008
49.	श्री मधुसूदन चक्रवर्ती	प्रो. मनुदेव बन्धु	जावाल दार्शनिकोपनिषद् तथा योगदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन	2008
50.	कु. सरिता देवी	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	सामवेद की पावमानी ऋचाओं का समीक्षात्मक अध्ययन (आचार्य सायण एवं पं. रामनाथ वेदालंकार के परिप्रेक्ष्य में)	2008
51.	अश्वनी कुमारी	डॉ. भारतभूषण वेदालंकार	मार्कण्डेय पुराण में निरूपित वैदिक संस्कृति	2008
52.	दिव्या शर्मा	डॉ. महावीर अग्रवाल	महर्षि दयानन्द सरस्वती-कृत-वेदभाष्यों का सांस्कृतिक परिशीलन	2008
53.	सरिता रानी	डॉ. सुनृता विद्यालंकार	सामवेदस्य वर्तमान कालिक प्रमुख भाष्यकारा:	2008
54.	श्री हेमन्त चतुर्वेदी	प्रो. मनुदेव बन्धु	वैदिक संहिताओं में ब्रह्म मीमांसा	2008-09
55.	श्री वाजश्रवा आर्य	डॉ. सत्यदेव निगमांलकार	सामवेद में प्रयुक्त आख्यातों का अर्थानुशीलन	2009
56.	अमर कौर	डॉ. संगीता सिंह	अथर्ववेदे आध्यात्मिक चिन्तनम्	2009
57.	विपुल कुमार	डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य	विश्वशान्ति की समस्या : वेदों में प्रतिपादित योग विद्या के विशेष सन्दर्भ में-एक समीक्षात्मक दार्शनिक अध्ययन	2009

58.	श्री हरिकृष्ण आर्य	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	ऋग्वेद में उपलब्ध निर्वचनों का पाश्चात्यवर्ती वाङ्मय के निर्वचनों के साथ तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक एवं दार्शनिक अध्ययन	2009
59.	सुमन देवी	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	अथर्ववेदीय गत्यर्थक तिङन्तपदानां विमर्शात्मकम् अध्ययनम्	2009
60.	श्री अमित कुमार चौहान	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	वैदिक एवं परवर्तीमतों के आधार पर भारतीय धर्मों का सार्वभौमिक स्वरूप : एक समीक्षात्मक अध्ययन	2009
61.	श्री कृष्णपाल सिंह	डॉ. ब्रह्मदेव	ऋग्वेदीयवरुणदेवताया विवेचनात्मकमध्ययनम्	2010
62.	श्री अजीत सिंह	प्रो. मनुदेव बन्धु	उपनिषदों में कर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष ऋषि दयानन्द के परिप्रेक्ष्य में	2010–11
63.	श्री विपिन कुमार	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	वेदों में प्रतिपादित जन्तु, वनस्पति, पर्यावरण एवं कृषि विज्ञान का आधुनिक विज्ञान के साथ तुलनात्मक अध्ययन	2011
64.	श्री रामहरीश मौर्य	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	योगशास्त्रीय तत्त्वों के आधार पर अमृतनादोपनिषद् एवं जाबाल दर्शनोपनिषद् का तुलनात्मक अध्ययन	2011
65.	श्री अवधेश कुमार उमराव	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	ऋग्वेद में 'चित्' निपात का अर्थ परिशीलन	2011
66.	श्री कमलदीप त्यागी	प्रो. मनुदेब बन्धु	बृहदारण्यकोपनिषद् में योगविद्या : एक विवेचनात्मक अध्ययन	2011
67.	श्री डम्बर प्रसाद पौडेल	प्रो. मनुदेव बन्धु	वैदिक स्वर प्रक्रिया एक समीक्षात्मक अध्ययन (यजुर्वेद माध्यन्दिन के सन्दर्भ में)	2011
68.	श्री वीरेन्द्र कुमार सक्सेना	प्रो. मनुदेव बन्धु	सामवेद के दार्शनिक तत्त्व	2011
69.	स्नेहलता	डॉ. सोमदेव शतान्शु	अथर्ववेदे विविधाः चिकित्सापद्धतयः	2011
70.	श्री अजीत कुमार	डॉ. सत्यदेव निगमालंकार	महर्षि दयानन्द सरस्वती और श्री अरविन्द की चिन्तनधारा का तुलनात्मक अध्ययन	2011

71.	ऋतम्भरा	डॉ. सत्यदेव निगमालंकार	महर्षि दयानन्द कृत वेदभाष्य में ईश्वर की अवधारणा	2011
72.	श्री नरेन्द्र	प्रो. मनुदेव वन्धु	यजुर्वेदीय शिक्षण प्रविधि	2012
73.	श्री स्वामी धर्मानन्द योगतीर्थ	प्रो. मनुदेव वन्धु	आरण्यकों में योग विद्या	2012
74.	उषा देवी	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	यजुर्वेद में आयुर्वेद के मूलतत्व विशेषता शरीरक्रिया विज्ञान के सन्दर्भ में	2012
75.	श्री प्रणव देव शर्मा	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	महर्षि दयानन्द वेदभाष्य में प्रतिपादित त्रैतवाद का समीक्षात्मक अध्ययन	2012
76.	श्री तरुण मदान	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	मातृत्व में योग एवं प्राग्जन्म संस्कारों का अवदान समीक्षात्मक अध्ययन	2012
77.	श्री वरुण वीर	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	वेदों में मूलतत्वों का उपनिषद्	2012
			वाङ्मय में विस्तार एक परिशीलन	2012
78.	आरती	डॉ. महावीर अग्रवाल	वेदेषु ऋत तत्त्वम् (महर्षि दयानन्द प्रणीत वेदभाष्यस्य विशेष सन्दर्भे)	2012
79.	शुचि गुप्ता	डॉ. वीना विश्नोई	अथर्ववेद गृहस्थश्रमस्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषणम्	2012
80.	श्री कीरतपाल सिंह	डॉ. सत्यदेव निगमालंकार	वैदिक साहित्य में मनोरंजन	2012
81.	सरस्वती	डॉ. जी.पी. शास्त्री	वैदिक शिक्षा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक शिक्षा पद्धति	2012
82.	रीमा श्रीवास्तव	डॉ. राकेश शर्मा	वैदिककालीन आर्थिक जीवन-एक विवेचनात्मक अध्ययन	2012
83.	श्री गुलाब सिंह	डॉ. सोहनपाल आर्य	योग की विभिन्न प्रवृत्तियों का वैदिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषणात्मक अनुशीलन	2012
84.	श्री वेदव्रत	डॉ. सोमदेव शतांशु	ऋग्वेदे आयुर्विज्ञानम्	2012
85.	श्री सुरेश चन्द्र	डॉ. सत्यदेव निगमालंकार	वेदों में कलात्मक जीवन की अवधारणा	2012

86.	रजनी देवी	डॉ. जी.पी. शास्त्री	वैदिक वाङ्मय में दर्शपूर्णमासेष्टि : एक विवेचनात्मक अध्ययन	2012
87.	श्री वालकृष्ण शर्मा	प्रो. मनुदेव वन्धु	स्कन्द एवं नारायण पुराण का ज्योतिष शास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययन	2013
88.	श्री सुशील कुमार वर्मा	प्रो. मनुदेव वन्धु	महर्षि दयानन्द के पंचमहायज्ञों का विनियोगात्मक अध्ययन	2013
89.	श्री रामकुमार	प्रो. मनुदेव वन्धु	वैदिकचिकित्सा सिद्धान्तों का आधुनिक चिकित्सा शास्त्रीय विवेचन	2013
90.	श्री प्रभुदयाल ठकराल	प्रो. मनुदेव वन्धु	स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर.टी.एच.ग्रीफिथ के यजुर्वेद भाष्य में ईश्वर का स्वरूप एक तुलनात्मक अध्ययन	2013
91.	विभा	प्रो. मनुदेव वन्धु	वैदिक विचारों की सार्वभौमिकता व उपयोगिता यजुर्वेद के सम्बन्ध में	
92.	श्री मनोज कुमार	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित योगशास्त्रीय तत्त्वों का समीक्षात्मक अध्ययन	2013
93.	श्री सन्दीप कुमार	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तियोग का वैदिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन	2013
94.	अनुज कुमारी	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार का वैदिक कृतित्व : एक अध्ययन	2013
95.	कु. शालिनी आर्या	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	शतपथ ब्राह्मणोक्त आख्यानों की समीक्षा	2014
96.	श्री सुरेन्द्र कुमार	डॉ. सुधीर कुमार	आपस्तम्ब एवं बौधायन धर्मसूत्रों में प्रतिपादित समाज व्यवस्था का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अध्ययन	2015
97.	प्रियंका	डॉ. सुधीर कुमार	आचार्य सुदर्शन देव जी के वेद विषयक कृतित्व का समीक्षात्मक परिशीलन	2015
98.	श्री सहदेव शर्मा	डॉ. सुधीर कुमार	एकादशोपनिषद् में वर्णित आध्यात्मिक विषयों का पर्यालोचन	2016
99.	रुची अग्रवाल	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	आर.टी.एच.ग्रीफिथ कृत 'The Hymns of the Rgveda-Book I' का अनुवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन	2016
100.	श्री लक्ष्मी प्रसाद सुवेदी	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	ज्योतिष तथा आयुर्वेद की दृष्टि में रोग के कारण और निवारण	2016

101. श्री सिद्धार्थ भार्गव	डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री	Cosmogony and Cosmic Being a concept study of Vedic conception in perspective of Sānkhya	2016
102. खुशवेन्द्र देव चतुर्वेदी	प्रो. भारत भूषण	वैदिक संहिता में वर्णित ज्योतिष के तत्व वैदिक एवं ज्योतिष साहित्य के परिप्रेक्ष्य में	
103. श्रद्धा एस.	प्रो. रूप किशोर शास्त्री	श्रौत एवं दशपूर्णमासेष्टि की प्रक्रिया में देवतातत्व वा फलश्रुति का विवेचनात्मक अध्ययन	
104. श्री मनोज कुमार	डॉ. सत्यदेव निगमालंकार	वैदिक परिप्रेक्ष्य में वाल्मीकि रामायण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण	

(क्रमशः)

नोटः- उक्त सूची पूर्ण सावधानी से विभागीय शोधच्छात्रों के द्वारा बनवायी गयी है, पुनरपि यदि कोई त्रुटि परिलक्षित होती है तो इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूं। (सम्पा.)

पत्र एवं सम्मतियां

No. 3623618/DS(P)/Desp/2016

चंद्रेश सोना
उप-सचिव

सत्यमेव जयते

प्रधान मंत्री कार्यालय
नई दिल्ली - 110011
PRIME MINISTER'S OFFICE
New Delhi - 110011

23 मई, 2016

प्रिय प्रो. शास्त्री जी,

प्रधान मंत्री जी को भेजी गई आपके द्वारा रचित पुस्तक 'वैदिक वाग् ज्योतिः' प्राप्त हुई। धन्यवाद ।

हार्दिक शुभकामनाओं सह,

आपका,

(चंद्रेश सोना)

प्रो. दिनेश चन्द्र शास्त्री
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार
उत्तराखण्ड-249404

भारतोदय प्रतिष्ठान (रजि.)

● अध्यक्ष ●

प्रा. डॉ. चंद्रशेखर लोखंडे (विद्यामार्तण्ड)

शास्त्री एम.ए.बी.एड. आयु.भा. (उ.प्र.)

सीताराम नगर, लातूर - ४१३ ५३१, फोन : (०२३८२) २२६०२९

जा. क्र.

दिनांक : 30/5/16

प्रा.डॉ.चन्द्रशेखर [illegible]
सीताराम नगर, लातूर (म.)
फोन नं. (०२३८२)-२२६०२९
मो.९९२२२५५५९७

मा.
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
सम्पादक/अध्यक्ष
वेदविभाग, झारखण्ड काशी

नमस्ते।

आपके द्वारा प्रेषित "वैदिकवाग् ज्योतिः" विशेषांक प्राप्त हुआ। आपका धन्यवाद। मुझे इस अंक के लिए लेख भेजने हेतु आपका पत्र भी आया था, लेकिन व्यस्तताओं के कारण लेख न भेज सका। भविष्य में ऐसी कोई सूचना आती है तो मैं अवश्य तत्पर रहूँगा। आपके वेदविभाग द्वारा प्रकाशित विशेषांक "वैदिकवाग् ज्योतिः" विशेषांक के सभी पहलुओं से परिपूर्ण बन पड़ा है। यह विशेषांक वैदिक साहित्य के अध्ययन में संलग्न छात्र-छात्राओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा ऐसा मेरा मानना है। वेद वाङ्मय में कुछ रुचि रखने वाले शोधिकर्ता एवं लेखकों के लिए भी मार्गदर्शक हो सकता है। न्यूनता प्रदर्शित तभी बहुलकर्ता है जब कुछ हो। अतः इस परिपूर्ण अंक के लिए आपको पुनः बधाई। अन्य सब ठीक।

भवदीय

प्रा.डॉ. चन्द्रशेखर लोखंडे
(विद्यामार्तण्ड)

"वैदिक वाग् ज्योति" से सम्बद्ध सभी लोगों के लिए अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि हमारे सम्पादक-मण्डल की माननीय सदस्या डॉ. शशि तिवारी को वर्ष 2015 के राष्ट्रपति सम्मान (सम्मान प्रमाणपत्र) से अलंकृत किया गया है। वैदिक विद्या के प्रचार-प्रसार में सतत संलग्न और अनेक ग्रंथों की लेखिका डॉ. शशि तिवारी को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएं।

-'वैदिक वाग् ज्योति' का सम्पादक-मण्डल

वेद विभाग की गतिविधियां एवं योगदान

1. मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों की कई मिथ्या मान्यताओं एवं अवधारणाओं को कि जिनमें 'आर्य लोग बाहर से आये थे' आदि का खण्डन वेद मंत्रों के आधार पर किया।
2. यज्ञ एवं संस्कारों के माध्यम से समाज और परिवार को वेदानुकूल जीवन का उपदेश। सामाजिक सौहार्द और विश्वबन्धुत्व को बढ़ावा देना। कन्याभ्रूणहत्या के विरुद्ध समाज को जागरुक करना तथा पर्यावरण के प्रति जागरुकता बढ़ाना।
3. विभाग ने युवाओं एवं समाज के चरित्र पतन के कारण मद्य, मांस, मदिरा आदि दुर्व्यसनों के निवारणार्थ और नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए अनेक सामूहिक यज्ञों और सत्संग का आयोजन किया है।
4. समय-समय पर विभाग द्वारा कई राष्ट्रिय एवं अन्तर्राष्ट्रिय वैदिक सम्मेलनों का आयोजन किया गया जिसमें देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने भाग लेकर अपने शोध-पत्रों का वाचन किया। इन सम्मेलनों के माध्यम से वेदों में वर्णित सभी विद्याओं पर तथा भाष्यकारों पर विचार मन्थन हुआ। वर्तमान सन्दर्भ में वेद विद्या को जोड़ने का प्रयास किया गया।
5. विभाग ने अपने स्तर से छात्रों को छात्रवृत्ति देने के लिए 17 लाख से अधिक रुपयों की दो स्थिर निधियां विश्वविद्यालय में जमा की हुई हैं। जिनके ब्याज से विभाग में पढ़ने वाले छात्रों को प्रति वर्ष छात्रवृत्ति दी जाती है।
6. विभागीय प्राध्यापकों ने विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या संकाय से प्रकाशित होने वाली **'गुरुकुल पत्रिका'** (रिसर्च जर्नल) का वर्षों तक सम्पादन किया है। अब विभाग ने स्वतंत्र रूप से एक अन्तर्राष्ट्रिय मूल्यांकित षाण्मासिक रिसर्च जर्नल **'वैदिक वाग् ज्योतिः'** को प्रारम्भ किया है। इसका निरन्तर प्रकाशन किया जा रहा है।
7. वर्तमान में कार्यरत वेदोपाध्यायों ने यू.जी.सी. से अनुदानित कई बृहद् एवं लघु शोध परियोजनाओं पर कार्य सम्पन्न किया है। जिनका विवरण इस प्रकार है–
   (i) वैदिक वाङ्मय निरुक्ति कोष, 1993-1997 (i) वैदिक उपमा कोष, 1998-2001 (iii) उणादि निरुक्ति व्युत्पत्ति कोष, 2001-2006 (iv) वेदभाष्यम् निरुक्ति व्युत्पत्ति बृहद् कोष, 2007-2010 (i) Vedic yajna Samagri-formulation, Charecteristics and its antimicrobial effects, 2003.

वर्तमान में कई परियोजनाओं पर विभाग केन्द्रित हैं। जैसे–

(i) वेदों में प्राप्त व्यत्ययों (Transpositions) का समीक्षात्मक अध्ययन।
(ii) वैदिक पुनरुक्तियों की समीक्षा।
(iii) वैदिक यज्ञ और संस्कारों का सामाजिक और वैज्ञानिक अध्ययन।
(iv) विदेशी विद्वानों के द्वारा वेदों पर किये गये कार्य का हिन्दी में अनुवाद तथा उसका तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन।
(v) वैदिक अलंकार कोष का निर्माण।
(vi) आत्मानन्द द्वारा ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त पर कृतभाष्य का हिन्दी अनुवाद।

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly peer-reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar - 249 404 Uttarakahan, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

Note : *For subscription and related enquiries feel free to contect Business Manager.*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
Jan.-June 2016

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate Swāmī Dayānand Sarswatī's thoughts and opinions for clearing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. वेद विषयक भ्रांतियों को दूर करने से सम्बन्धित स्वामी दयानन्द की विचारधारा को गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।